व्यक्ति और राज

लेखक—

सम्पूर्णानन्द

प्रकाशक—

हिन्दी पुस्तक एजेन्सी

ज्ञानवापी, बनारस

[मूल्य २॥)

१९४६

द्वितीय बार]

प्रकाशक—
बाबू बैजनाथ केडिया
हिन्दी पुस्तक एजेन्सी
ज्ञानवापी, बनारस।

शाखायें
२०३ हरिसन रोड, कलकत्ता
दरीबा कलाँ, दिल्ली
बांकीपुर पटना

मुद्रक—
कृष्णगोपाल केडिया
वणिक प्रेस,
साक्षीविनायक, बनारस।

ॐ

सहस्रशीर्षा पुरुषः, सहस्राक्ष सहस्रपात् ।
एकोऽप्यनेकवद्भाति, तस्मै सूत्रात्मने नमः ॥
लोकानाम् लोकपालानाम्, मर्यादाः संप्रवर्तिताः ।
भुक्त्यै मुक्त्यै च येनादौ, तस्मै श्री मनवे नमः ॥

भारतके व्यथित हृदयको समर्पित

विषय सूची

विषय सूची

भूमिका

आज पृथ्वीमें भयावह उथल-पुथल मच रहा है। इतना ही नहीं है कि कुछ बलवान् राष्ट्र एक दूसरेसे लड़ रहे हैं और शेष भी सम्भवतः युद्धकी परिधिमें आनेवाले हैं परन्तु जहां लड़ाई नहीं है वहां भी भीतर भीतर ज्वालामुखी दहक रहा है। पूँजीवादने साम्राज्यवादको प्रसव किया। अपने देशमें और अपने देशके बाहर जो दूसरोंका जितना ही शोषण कर सकता है वह उतनी ही प्रतिष्ठा पाता है। धर्म, विज्ञान दर्शन वाङ्मय, कला—यह सब बातें जो मानव संस्कृतिकी अमूल्य सन्तति हैं जिन्होंने अपने तेजसे सभ्यताके इतिहासके काले धब्बोंको ढक दिया है—लक्ष्मीपुत्रोंके दरबारोंकी शोभा बढ़ानेके उपकरण हैं। जिनके हाथोंमें राजसंचालनका पवित्र दायित्व है वह वासनाके दास हो रहे हैं। एक ओर लोकतन्त्र देशोंमें यह अंधेर मच रहा है दूसरी ओर अधिनायकतन्त्र कायम हो रहे हैं। लोगोंकी स्वतन्त्रता छिन गयी और कोई सिर उठानेका साहस नहीं करता। प्रचारके साधन जनताको यही समझाते हैं कि स्वतन्त्रता छिन जानेमें ही उसका कल्याण है।

इसके दो तीन परिणाम देख पड़ते हैं। एक ओर तो उन

लोगोंमें जो नेतृत्व न सकत उदासीनता, अकर्मण्यता बढ़ती जाती है। वह ऐसा अनुभव करते हैं कि हाथ पैर चलाना व्यर्थ है। स्वतन्त्रता स्वाधीनता प्रजाके अधिकार लोकमत आदि शब्द निरर्थक हैं, इनका उच्चारण करके अपना जी दुखाना पागलपन है। खाना पीना मनोविनोद करना और चुपचाप मर जाना—बस जीवनका यही लक्ष्य है। दूसरी ओर सामान्य जनता एक अव्यक्त अशान्तिका शिकार हो रही है। उसकी भौतिक आवश्यकताएँ चाहे पूरी भी हो जाती हों पर उसके चित्तमें किसी चीजकी भूख बनी रहती है। वह चीज क्या है इसे वह स्वयं नहीं समझ पाती। वह असन्तुष्ट है पर क्या चाहता है यह बतला नहीं सकता। उसे इसका पता नहीं है कि स्वतन्त्रताके अभावमें मनुष्यकी आत्मा अतृप्त रहती है, क्योंकि स्वाधीनता उसका स्वभाव, उसका स्वरूप है।

आज भारत स्वराज्यके प्रश्नपर विचार कर रहा है। उसने राजनीतिक स्वातन्त्र्य प्राप्त करनेका संकल्प कर लिया है और ऐसी आशा है कि अनेक विघ्नबाधाओंके होते हुए भी उसको अपने उद्देश्यकी प्राप्तिमें शीघ्र ही सफलता होगी। यहाँ भी किसी न किसी प्रकारका अपना राज्य स्थापित होगा।

उस राज्यमें शासनव्यवस्था तो चाहे जैसी हो पर यह तो आशा करनी ही चाहिये कि उसका स्वरूप लोकतन्त्रात्मक होगा। परन्तु उस भूलसे तो बचना ही चाहिये जो पाश्चात्य और उनके अनुयायी प्राच्य देशोंके जीवनको दूभर किये हुए

है। राज क्या है, राजका उद्देश्य क्या है, व्यक्तिका राजमें स्थान क्या है, उसके अधिकार क्या हैं, इन बातोंको जाननेसे ही इन प्रश्नोंमें रचना हो सकता है। यह समस्या केवल व्यवहारिक ढङ्गसे नहीं सुलझ सकती। इसकी तहमें कई आध्यात्मिक तत्व हैं। उनके समझे बिना इस विषयकी पूरी विवेचना नहीं हो सकती। जो लोग 'दर्शन' के नामसे भागते हैं उनको भी अपनी बुद्धिपर थोड़ासा ज़ोर देना चाहिये।

मैंने इस पुस्तकमें सभी मुख्य प्रचलित विचारोंका दिग्दर्शन कराया है और फिर यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि कौनसा सिद्धान्त समीचीन है। यह समीचीन सिद्धान्त मेरी सम्मतिमें उन दार्शनिक विचारोंपर खड़ा है, जिनको मानव समाजके सामने पहिले पहल रखनेका श्रेय भारतके ऋषिमुनियों और उनकी परम्परापर चलनेवाले तत्वज्ञ विद्वानोंको प्राप्त है। सम्भव है कि पहिले कभी किसीने इस विषयपर उस प्रकार विचार नहीं किया जैसा मैंने किया है। शायद इसकी आवश्यकता न पड़ी होगी। मुझको तो अपने सामने वह सैकड़ों वर्षका इतिहास—वह लाखों मनुष्योंकी आह और अन्तर्वेदना, स्वतन्त्रताको कुचलनेके घोर प्रयत्न स्वाधीनताके नामपर वह अपनी आहुतियाँ, जनताको सतानेके लिये धर्म और दर्शनका वह तोड़ मरोड़—रखना था जो प्राचीनकालके विद्वानोंके समयमें अबतक आता है। इसलिये जो बात उन्होंने सूत्ररूपसे कह दी थी उसको

इसकी व्याख्या करनी पड़ती है। व्याख्या भी ऐसी होनी चाहिये कि इस समयकी परिस्थितियोंको ध्यानमें रखकर की गया हो अन्यथा उसका आवश्यक समादर और लाभ न होगा।

मैं नहीं कह सकता कि इस प्रयासमें मुझको कहाँतक सफलता मिली है। यदि मैं लोगोंका ध्यान इस आवश्यक विषयकी ओर खींच सकूँगा तो भी अपनेको कृतकृत्य मानूँगा। मेरा ऐसा दृढ़ विश्वास है कि पाश्चात्य आधिभौतिक सिद्धान्त और समाजवादके स्थानपर भारतीय विचारोंके समन्वयमें ही जगत्‌का कल्याण है और यह समन्वय पूर्णतया सम्भव है। भारतने पहिले भी संस्कृतिके क्षेत्रमें गुरुपदको सुशोभित किया है। ऐसी आशा क्यों न की जाय कि यह आगे भी ऐसा करेगा?

जबतक राज्यव्यवस्था ठीक नहीं होती जबतक शासक और शासित अपने अपने धर्मको पहिचानकर उसका पालन नहीं करते तबतक सच्चा सांस्कृतिक विकास नहीं हो सकता। सुचारु रूपसे परिचालित राज्य ही वह वातावरण प्रदान करता है जिसमें व्यक्ति अपने बन्धनोंसे छुटकारा पाकर आत्मचिन्तन कर सकता है। इसीलिये विरक्त साधुओं को भी राज्यव्यवस्थाकी ओर ध्यान देना पड़ता है। सामान्य गृहस्थ तो जिनको नागरिक रूपसे राज्यके सञ्चालनके भले बुरे परिणाम भोगने हैं, इस ओर उपेक्षा नहीं ही कर सकते

आज तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि स्वाधीनताका सूर्य अस्त हो जायगा। कई देशोंमें उसकी किरणें तेज ही नहीं पड़तीं दूसरोंमें भी उसका प्रकाश क्षीण पड़ता जा रहा है। ऐसे समयमें उन सब लोगोंका, जो मनुष्यको मनुष्यके रूपमें देखना चाहते हैं, यह कर्तव्य हो जाता है कि इस ओर तत्काल ध्यान दें और सभ्यता और संस्कृतिको लुप्त होनेसे बचा लें।

जालिपादेवी, काशी
३० चैत्र (सौर) १९९७

—सम्पूर्णानन्द

कृतज्ञता प्रकाश

इस पुस्तकमें मेरी लिखी 'समाजवाद' से कुछ अवतरण लिये गये हैं। ऐसा करनेकी अनुमति देनेके लिये मैं उसके प्रकाशक श्री काशी विद्यापीठका आभारी हूँ।

—ग्रन्थकार

व्यक्ति और राज

विषयमुख

व्यक्ति और राजका सम्बन्ध उतना ही पुराना है जितना कि व्यक्ति और राजका अस्तित्व। सम्बन्धका स्वरूप कैसा हो इस विषयमें समय समयपर सिद्धान्त और सम्मतिमें उलट फेर होता रहा है। व्यवहार और उस समयके प्रचलित सिद्धान्तमें बहुधा अन्तर देखा गया है। परन्तु ऐसा कोई भी ऐतिहासिक समय नहीं मिलता जब प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी राजके अन्तर्गत न रहा हो अर्थात् किसी न किसी राज से किसी न किसी प्रकार सम्बद्ध न रहा हो। इस व्यापक कथनके कुछ अपवाद भी रहे हैं और हैं। जो लोग अपनी इच्छासे दूसरे मनुष्योंको छोड़कर जंगल पहाड़में तपश्चर्या या किसी अन्य उद्देश्यसे चले जाते हैं उनको उस राजसे सम्बद्ध गिनना जिसकी भौगोलिक सीमाके भीतर उनका निवास स्थान है निरर्थक है। परन्तु हम ऐसे लोगोंको असाधारण मानते हैं, इनकी संख्या कभी भी अधिक नहीं हुई। सामान्यत तो जो मनुष्य किसी विवशताके कारण दूसरे मनुष्योंसे अलग पड़ जाता है वह फिर समाजका अङ्ग बनना चाहता है,

तब उसकी यह इच्छा पूरी नहीं होती तबतक व्याकुल रहता है। वह जानता है कि वह जिस समाजमें जा मिलेगा वह किसी न किसी राज्यका अवयव होगा, अतः अप्रत्यक्षरूपसे वह किसी न किसी राज्यका 'नागरिक', किसी न किसी राज्यसे सम्बद्ध व्यक्ति, बनना चाहता है। जो पागल हैं, जिसका मस्तिष्क काम नहीं करता, या जिसकी बुद्धि अभी उद्बुद्ध नहीं हुई, उसको छोड़कर सभी, यहाँतक कि चोर और खूनी भी, अपनेको किसी राज्यमें बँधा पाते हैं और इस बाँधनेवाली डोरको काटनेका प्रयत्न नहीं करते पाये जाते। जो लोग कानून तोड़कर जेलोंमें बन्द होते हैं वह कुछ बन्धनोंको भले ही नापसन्द करते हों, किसी तात्कालिक आवेशमें आकर घोर उद्दण्डता कर बैठे हों, पर वह भी यह नहीं चाहते कि जिन स्वत्वोंको वह अपना समझते हैं उनका अपहरण हो। वह क्या चाहते हैं इसको ठीक-ठीक न कह सकते हों पर उनकी भी हार्दिक इच्छा यही रहती है कि वह सुधरे हुए राज्यके अंग हो कर रह सकें। अतः जो लोग देखनेमें अपवाद जान पड़ते हैं वह भी वस्तुतः इस व्यापक नियमके बाहर नहीं हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छासे राज्यसे सम्बद्ध है। यह बात बर्बर और सभ्य, सभी प्रकारके मनुष्योंमें पायी जाती है।

जो नियम इतना व्यापक है उसका कोई न कोई व्यापक आधार भी होगा जिसकी जड़ मनुष्यकी प्रकृति और उसके जीवनकी आवश्यक परिस्थितियोंमें होगा। मनुष्यके सम्बन्धमें

ऐसा कहा जाता है कि वह एकाकी रह नहीं सकता। इसका अर्थ यह है कि एकाकी रहनेसे मनुष्यका जीवन अपूर्ण रहता है। उसकी बुद्धिका, उसकी छिपी मानस शक्तियोंका, विकास अकेलेमें नहीं हो सकता। राग, द्वेष, दया, ईर्ष्या, स्पर्धा, क्रोध, त्याग, ममता, अपना पराया, यह सब भाव एकान्तमें उदय नहीं हो सकते और इनके उदय हुए बिना चरित्र खिलता नहीं। भावोंके संघर्षसे ही मनुष्य उन्नति करता है। जहाँ कई मनुष्य होंगे वहीं समाज होगा और जहाँ समाज होगा वहीं नियन्त्रण होगा। नियन्त्रण ही राजका मूल है। जो विपथगामी होगा, अर्थात जो समाजमें प्रचलित दस्तूरोंके विरुद्ध आचरण करेगा या करना चाहेगा, उसको दण्ड देना होगा, रोकना होगा। दो झगड़नेवालोंमें कभी कभी निर्णय भी करना होगा। यदि सब लोग पूर्णतया मनमाने रहने लगें तो मात्स्यन्यायसे समाज नष्ट हो जाय और सबकी उन्नति, जो साथ रह कर ही हो सकती है बन्द हो जाय। इसी प्रकार कभी कभी दो समाजों, मनुष्योंकी दो टुकड़ियोंमें मछली मारनेकी जगह, गाय, भेड़, बकरी, चरानेकी जगह, उर्वरा भूमि इत्यादिके लिये विवाद हो सकता है। यह विवाद या तो बातचीतसे तय होगा या लड़कर। दोनों अवस्थाओंमें संघटनकी, किसी न किसी प्रकार की राजसत्ताकी आवश्यकता होगी। तात्पर्य यह है कि राज की सत्ताके बिना मनुष्य अपूर्ण और अविकसित रहता और अपनी रक्षामें असमर्थ होता। इसका परिणाम यह होता कि

या तो मनुष्य जाति नष्ट हो जाती या मनुष्य मनुष्य न बन पाता और शेर भालूकी भांति जंगली पशुमात्र रह जाता। राज और व्यक्ति सम्बन्धकी तहमें यही बात है। इस प्रवृत्तिका यह परिणाम होगा कि जहाँ कहीं मनुष्य होंगे, चाहे वह दो ही मनुष्य एक नये टापूपर छोड़ दिये जायं, वहां राज भी होगा।

आरम्भमें राजका जो रूप होगा उसे 'पुलिसराज' कह सकते हैं। न केवल जंगली देशोंमें वरन सभ्य देशोंमें भी बहुत दिनोंतक राजका न्यूनाधिक यही स्वरूप था। शासनपद्धतियाँ विभिन्न प्रकारकी थीं, पर राजका जो धर्म था, वह जो कर्तव्य पालन करता था, वह वही था जो सक्षपमें पुलिसका काम है। लोगोंको आपसमें लड़ पड़नेसे रोकना, यदि लड़ ही पड़ें तो छुड़ा देना, जो समाजमें प्रचलित दस्तूरोंको तोड़नेका विचार रखता हो उसे रोकना, जो न रोका जा सके उसे पकड़कर दण्ड देना ताकि वह भी सँभल जाय और वैसा काम न कर सके और दूसरे भी डरकर रुक जाय। यह राजका मुख्य काम था। एक और काम था। यदि कुछ लोग लड़ना न चाहें और उनमें किसी बातपर विवाद हो जाय तो पक्षपात किये बिना उनका झगड़ा चुका देना। यह तो भीतरकी बात हुई। अपनी सीमाके बाहर भी राजका काम पुलिसका ही था। उसे इसलिये सतर्क रहना पड़ता था कि कोई दूसरा राज आक्रमण न कर दे। राजकी सारी शक्ति इन्हीं कामोंमें लगती थी। वह जो कुछ करता था वह घूम फिरकर इन्हीं

उद्देश्योंकी सिद्धिके लिये होता था। उसके गुण दोष इन्हीं उद्देश्योंके कारण उत्पन्न होते थे। उसकी सफलता असफलताकी नाप इन उद्देश्योंकी पूर्तिसे ही होती थी। ऐसी अवस्थामें व्यक्तिकी परिस्थिति भी सीधी थी। राज उसके लिये थोड़ा काम करता था और उससे थोड़ा काम लेता था। एक सङ्कुचित क्षेत्रके बाहर राज उससे न तो यह पूछता था कि तुम क्या करते हो, न उसके काममें साधक या बाधक बननेका प्रयत्न करता था। दोनों ओरसे एक सीधा समझौता सा था। इस दशामें अपना कर्तव्य और अधिकार समझना सुगम था।

पर अब यह अवस्था नहीं रही। आज राजके कार्य्यक्षेत्रका विस्तार बहुत बढ़ गया है। राज अपने पुराने कर्तव्योंको भूला नहीं है। आज भी वह लड़ाइ दंगेको रोकता है, कानून तोड़नेवालोंको सजा देता है, लोगोंके दीवानी फौजदारी झगड़ोंको निपटाता है। इतना ही नहीं, उसका न्यायविभाग स्वयं उसके विरुद्ध निर्णय देता है। राज मुद्दइ ही नहीं, मुद्दाइलैह भी बनाया जाता है। न्यायालयोंको किसी किसी अवस्थामें यह भी निर्णय करनेका अवसर मिलता है कि जिस कानूनके अनुसार मुकद्दमा चल रहा है उसे बनानेका राजको अधिकार था भी या नहीं। आजसे सौ वर्ष पहिले यह बात प्राय असम्भव थी। उस समय यदि राजपर कोई रोक थी तो वह धर्म्म शास्त्रकी। कानूनके वैध अवैध या यों कहिये कि उचित अनु

रित होता है जो उसके पूर्वजोंके प्रेरक थे। पर अब जीवन उतना सरल नहीं रह गया। वह अब भी अपने पड़ोसियों और विदेशियोंके आक्रमणोंसे बचना चाहता है, उसे अब भी अपने बाल-बच्चे प्यारे हैं, पर आज उसके गलेमें कई प्रकारकी डोरें बँध गयी हैं। वह सम्भवतः हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई आदि किसी सम्प्रदायका अङ्ग है। वह या तो मजदूर है या किसी मिलका मालिक या मैनेजर या किसी बैंक या अन्य प्रकारकी कम्पनीका सञ्चालक, वह या तो किसान है या जमीन्दार, वह किसी दफ्तरमें नौकर है या अध्यापक है। उसकी यह विभिन्न हैसियतें एक दूसरेसे टकराती हैं। हिन्दू होनेके नाते उसे अन्य मतावलम्बियोंकी अपेक्षा हिन्दू मात्रको अपना भाई समझना चाहिये पर जमीन्दार होनेसे वह अपने हिन्दू किसानोंके हितोंका विरोधी है। व्यापार व्यवसायके क्षेत्रमें वह विदेशियोंसे लड़ता है पर विद्या या कलाके क्षेत्रमें उनके सहयोगका इच्छुक रहता है। जहाँ हैसियतों और उनसे उत्पन्न परिस्थितियोंका ऐसा संघर्ष हो वहाँ अपने कर्तव्यका निश्चय करना बड़ा कठिन होता है। राज व्यक्तिके जीवनको अनेक अवसरोंपर अनेक रूपोंमें, ऐसे रूपोंमें जो कभी-कभी एक दूसरेके विरोधी प्रतीत होते हैं, प्रभावित करता है और व्यक्तिको अपने जीवनमें पदे-पदे राजका मुँह ताकना पड़ता है और उसके रुखके अनुसार आचरण करना पड़ता है।

ऐसी अवस्थामें राज और व्यक्ति सम्बन्धके क्या आधार

है। प्रजाकी संख्या अधिक है, सरकारकी थोड़ी। राज अनेक प्रकारके काम देशके भीतर और बाहर करता रहता है। इसके लिये उसके जो अधिकार होते हैं उन सबकी समष्टिका नाम 'प्रभुत्व' है। जिस राजकी शक्ति पूर्णतया अकुण्ठित है, वह पूर्ण प्रभु अथवा स्वतंत्र, स्वाधीन राज है। जिसकी शक्ति विदेशी-दबाव या किसी अन्य कारणसे संकुचित है वह अल्पप्रभु, पराधीन राज है।

यह तो स्पष्ट ही है कि सरकारके बिना प्रजा और प्रजाके बिना सरकार नहीं रह सकता। इन दोनोंमें अन्योन्याश्रय है और दोनोंकी समष्टि राज है अतः नियमतः राजका किया हुआ प्रत्येक काम सरकार और प्रजा दोनोंका किया हुआ है, उसके लिये दोनोंका दायित्व है। परन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि राजके नामपर जो काम होता है उसे सरकार ही करती है। यह राज्य, अर्थात् अपने अधिकारक्षेत्रके भीतर राजके नाम-पर प्रजाको विधि निषेधात्मक आज्ञाएँ देता है और राज्यके बाहर राजकी प्रतिनिधिके रूपमें दूसरे राजोंसे यथानियम व्यवहार करती है। इसलिये व्यवहारमें सरकार शब्द एक प्रकार से राजका पर्य्यायवाची हो जाता है। वस्तुतः दोनों एक ही पदार्थ नहीं हैं। अनेक प्रकारके उथल पुथल होते रहते हैं फिर भी राजकी सत्ता बनी रहती है पर सरकार तो आये दिन बदला करती है। आज जहाँ नरेशका सिक्का चलता है कल वहाँ लोकतंत्र स्थापित हो सकता है पर इससे राजके अस्तित्वमें

कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह भेद ध्यानमें रखना चाहिये फिर भी यह सच है कि साधारणतः व्यवहारमें राजका अर्थ सरकार ही होता है।

जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है सरकार राजका एक अंग है फिर भी उसके कामोंका दायित्व पूरे अंगों अर्थात् सारे राज पर आता है। दूसरे शब्दोंमें सरकारके किये कामोंकी जवाबदेही प्रजापर भी आती है। इसलिये यह भी आवश्यक हो जाता है कि यह बात निश्चित हो जाय कि प्रजायानी दूसरे शब्दोंमें जनता या नागरिक समुदाय, शासितोंकी समष्टि या कोई अवयव अर्थात् कोई व्यक्ति कहांतक और किस अवस्थामें राज अर्थात् सरकारके कामोंका उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले। यह बात तब हानी चाहिये कि वह कब और किस प्रकार ऐसे दायित्वको ओढ़ना अस्वीकार कर सकता है। इसी बातको दूसरे शब्दोंमें यों कहेंगे कि उसके और राजके बीचमें जो सम्बन्ध है उसका स्वरूप निश्चित हो जाना चाहिये।

यह समस्या केवल व्यावहारिक उपादेयताके आधारपर नहीं सुलझ सकती। व्यावहारकी बात तो यह है कि सरकार की सदैव यह इच्छा रहती कि प्रजा बिना कान पूँछ हिलाये उसकी बातें मानती जाय और उसके किये हुए सभी कामोंका भार अपने ऊपर लादता जाय। व्यवहारमें प्रायः प्राय ऐसा हो करती भी है पर कभी-कभी सरकारकी कोई बात थोड़े या बहुत व्यक्तियोंको नहीं भाती और यदि वह बलशाली

हुए तो उनकी इच्छा पूरी होकर रहती है। पर इससे केवल एक विशेष बला टल जाती है, मेघ घिरे ही रहते हैं। यदि प्रश्नको सुलझाना है तो इसपर सैद्धान्तिक रूपसे विचार करना होगा। किसी एक राजा या किसी एक व्यक्तिका प्रश्न नहीं है, न किसी अवसर विशेषके कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करना है। यथासम्भव देशकालसे ऊपर उठकर यह देखना है कि राज्य और व्यक्तिमें कैसा सम्बन्ध होना चाहिये जो उभयके लिये श्रेयस्कर हो।

मैं पहिले भी कह चुका हूँ कि आज इस प्रश्नकी ओर ध्यान देना पहिलेकी अपेक्षा अधिक आवश्यक हो गया है क्योंकि समस्या पहिलेसे जटिल हो गयी है। आजसे दो सौ वर्ष पहिले, भारतके देशी रजवाड़ों तकमें भी, बात बहुत सीधी थी। प्राचीनकालके विद्वानोंने राज्यके सम्बन्धमें जो कुछ छानबीन की थी वह विस्मृत हो गयी थी। राज्यका किसीको खयाल भी नहीं था। जो कुछ था वह राजा था। फ्रांसके बादशाह चौदहवें लुईने जिस बातको स्पष्ट शब्दोंमें कहा था (ल एता स म्वा—'राज्य' मैं राज्य हूँ) उसे सब ही मानते थे। राजाकी बात भली लगे या बुरी पर उसके हाथमें शक्ति थी अतः उसकी आज्ञा मान्य थी। यदि उससे कुढ़कर बलवा हुआ और दूसरा राजा या राजवंश बैठाया गया तो वह भी उतना ही मान्य हो गया। देश और विदेशमें सारी जिम्मेदारी राजाकी थी। प्रजा यश अपयशकी भागी नहीं थी, उसका कोई दायित्व नहीं था।

आज अवस्था दूसरी हो गयी है। जो कुछ कहा या किया जाता है वह राजके नामपर और राजका मुख्य अङ्ग प्रजा है, अतः प्रत्येक कामके लिये देशमें और विदेशमें उसकी भी ज़िम्मेदारी हो जाती है। शासकोंके सिरपर दोष मढ़नेसे छुटकारा नहीं हो सकता। फिनलैण्डमें कुल पैंतीस लाख प्राणी बसते हैं। शासन जिन लोगोंके हाथमें है वह वहाकी बहुमूल्य खानों और जगलोंके स्वामी हैं। पर जब छोटासा फिनलैण्ड दस करोड़ जनसख्या वाले रूससे लड़ाया गया तो इन शासकोंके निजी क्षति लाभका नाम नहीं लिया गया। जनताकी स्वाधीनता और राजके हितकी ही दुहाई दी गयी। अमेरिका के संयुक्त राजमें समाजवादियों, विशेषतः समष्टिवादियोंको पीट देना न्यायालयोंमें उनको सफाईका ठीक-ठीक अवसर न देना, देशसे निकाल देना, फांसीपर लटका देना—यह सब राजके हितके लिये किया जाता है। प्रशान्त महासागरके दूसरे किनारेपर रूसमें पूँजीवालोंके साथ ठीक वैसा ही बर्ताव करनेसे राजका हित होता है। भारतमें राजका हित आज इस बातमें माना जा रहा है कि बहुतसे नवयुवक शिक्षित भारतवासी जेलोंमें डाल दिये जाय, नजरबन्द कर दिये जाय, देश छोड़ कर चले जायं। न ब्रिटेनकी प्रजा अपने राजा या मन्त्रियोंके लिये लड़ती है, न जर्मनीकी प्रजा हिटलरके लिये, न परतन्त्र भारतकी प्रजा अपनी विदेशी सरकारके लिये। कहा जाता है कि वह सब राजके हितके लिये लड रहे हैं। इस प्रकारमें

सहज प्रवृत्ति समुदायके राजनीतिक जीवनकी रक्षा करती है। भैंसों और गायोंके झुण्डपर जब किसी बनैले हिंस्र पशुके आक्रमणकी आशङ्का होती है तो बछड़ों और गायोंको बीचमें करके सब नर घेरा बाँधकर खड़े हो जाते हैं ताकि शत्रु जिधरसे आये उस सींगोंका सामना करना पड़े। घोड़े और गधे पिछली टाँगोंको बाहर करके खड़े होते हैं ताकि शत्रुको लात मार सकें। आरम्भमें मनुष्यके जीवनमें इससे अधिक राजनीतिका समावेश नहीं था। सार्वजनिक शत्रुओंका सामना करनेके लिये सहज प्रवृत्ति सबको खड़ा कर देती थी। कोई न कोई नेता भी रहता होगा। भेड़ियोंके गोलमें भी जो भेड़िया अधिक बलवान् और चतुर होता है वह स्वतः नेता बन जाता है और दूसरे उसके पीछे पीछे चलते हैं। पर इसमें न कोई संघटन है न नेताके दैवी आधिपत्य माननेकी बात है, न उसकी आज्ञाको अनिवार्यतया मानना है। प्राचीन मनुष्य समाजमें भी ऐसा ही रहा होगा। पशु पक्षियोंमें भी आपसमें बरतनेके नियम होते हैं और जो उन नियमोंको तोड़ता है उसे सब मिलकर दण्ड देते हैं। यों कह सकते हैं कि उस पशु या पक्षिसमुदाय का लोकमत नियमके उल्लंघन करनेवालेको दण्ड देता है। वह नियम समुदायके अनुभवके आधारपर आप ही बन गये हैं अर्थात् इनके पालनसे समुदाय सुव्यवस्थित और चिरजीवी रह सकता है अतः यह समुदायके प्रायः प्रत्येक प्राणीकी मन प्रवृत्तिके अविच्छेद्य अंग हैं। परन्तु कानूनमें यह बात नहीं

होती। कानूनका परिभाषा यह है कि वह ऐसी आज्ञा होती है जिसके साथ दण्ड लगा होता है। 'चोरी मत करो, अन्यथा अमुक अमुक दण्ड पाओगे' यह कानूनका रूप है। पशु समाज में ऐसे कानून नहीं होते, प्राचीन मनुष्य-समाजमें भी न होंगे, क्योंकि कानूनके लिए कोई बनानेवाला नियामक, आज्ञा देनेवाला चाहिये। ऐसा नियामक न पशु-समाजमें है, न पुराने मनुष्य समाजमें था। यह नहीं कह सकते कि कानून उन प्राकृतिक नियमोंके समान हैं जिनसे समुदायकी रक्षा होती है, इसलिए वह सबके हृदयमें आप ही उत्पन्न हो जाते हैं। 'चोरी न करो' तो स्यात् ऐसा नियम माना जाता पर 'सड़क पर अपने बायें हाथ चलो' मनुष्य समुदायके लिए प्राकृतिक नियम नहीं है। यह तो किसी नियामकका ही बनाया हुआ है।

यह अवस्था कबतक चली गयी यह नहीं कहा जा सकता पर बुद्धिप्रधान मनुष्य पशुपक्षियोंकी भाँति सदा एक ही अवस्थामें तो रह नहीं सकता था। उसने कच्चे मासकी जगह पका भोजन खाना सीखा, खेती करना सीखा, पशु पाले, मकान बनाये, पृथ्वीके गर्भसे खनिजोंको निकालना और उनको गलाना तथा ढालना सीखा। मनुष्य समुदायका स्वरूप जटिल और जटिलतर होता गया। श्रमविभाग हुआ। कुछ लोग एक काम, कुछ दूसरे काममें लग। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ पहिले सब बराबर थे, वहाँ अब सम्पत्ति-वैषम्य हो गया। किसीके पास अधिक सम्पत्ति थी, किसीके पास कम। इसका

थत यह लोग अधिक सम्पन्न थे जिनके पास भूमि थी। उनकी बराबरी यदि कर सकते थे तो वही लोग कर सकते थे जो भूलोकका स्वर्लोकसे सम्बन्ध जोड़ सकते थे। यह पुरोहित सर्वश्रेष्ठ थे। कहनेका तात्पर्य यह है कि समुदायमें आर्थिक वैषम्य उत्पन्न हुआ। इसके साथ हैसियत, दर्जेमें भी वैषम्य हुआ। यह ऊँचा है, यह नीचा है ऐसा भाव दृढ होने लगा। जहाँ पहिले कोई बलवान व्यक्ति कभी कभी अपनेसे दुर्बलोंको कुछ तंग कर लेता होगा वहाँ अब बलवानोंका वर्ग बन गया और इस वर्गने दूसरोंको उत्पीड़ित करना आरम्भ किया। अब नेतृत्व भेड़ियों या प्राचीन मनुष्योंकी भांति अपनी चतुरता या अपने बाहुबलके आधारपर नहीं मिलता था वरन् अपने वर्गके आधारपर। यही संस्कृत प्रयोगमें प्रशस्त 'अभिजन बल' है। इधर उत्पीड़कोंसे अपनी रक्षा करनेके लिए दूसरोंको भी फिक्र हुई। यदि यह वर्गयुद्ध यों ही अव्यवस्थित रूपसे चला जाता तो उत्पीड़ितोंका तो संहार हो ही जाता, इसके बाद उत्पीड़क भी खतम हो जाते और समुदाय ही न रह जाता। ऐसी परिस्थितिमें राज्यका जन्म हुआ है।

पुराणोंमें राजकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें जो कथा दी है वह भी इसी बातका समर्थन करता है। ऐसा लिखा है कि पहिले कोई राजा न था। लोग आपसमें मिलकर रहते थे। परन्तु कुछ दिनोंके बाद यह अवस्था बदली। बलवान् लोग दुर्बलोंको 'मात्स्यन्यायेन' खाने लगे अर्थात् उसी प्रकार खाने लगे जिस

प्रकार बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियोंको खा जाती हैं। यह रूपक ध्यान देने योग्य है। शोषक और शोषितमें यही मात्स्य न्याय बरता जाता है। युक्तप्रान्तके कई बड़े जमींदार कृषकोंको अपना 'आहार' कहते सुने गये हैं। अस्तु, इस परिस्थिति से त्रस्त होकर सबने मनुसे प्रार्थना की कि आप हमारे राजा बनिये। इस प्रकार प्रथम राजकी सृष्टि हुई।



अध्यात्मवाद

इस विषयमें जितने सिद्धान्त प्रचलित हैं उनमें सबसे पहिला स्थान अध्यात्मवादका है। इसका कारण यह नहीं है कि यह सबसे पुराना है वरन् यह कि इसके समर्द्धन और प्रचारमें बड़े बड़े विद्वानोंने भाग लिया है और किसी न किसी रूपमें इसका दूसरे वादोंपर भी प्रभाव पड़ा है। अधिकांश सरकारोंको भी यह अभिमत है। अब वह काल तो है नहीं जब स्मृतिके शब्दोंमें, सरकारें अपने लिए 'नाविष्णु पृथिवीपति' (प्रत्येक राजा—सरकार—विष्णुका स्वरूप है) जैसे किसी वाक्यका पेश कर सकें। हमको ईश्वरसे अधिकार मिला है, हमसे केवल वही अन्याय तलब कर सकता है, ऐसा कहनेसे आजकल काम नहीं चलता। इसलिये किसी दूसरे शास्त्रीय आश्रयकी आवश्यकता पड़ती है। आश्रय भी ऐसा चाहिये जो किसी सम्प्रदाय विशेषका अङ्ग न हो, जिसको आस्तिक नास्तिक सभी स्वीकार कर सकें, जिससे सरकारी स्वच्छन्दता को सहारा मिल जाय, परन्तु साथ ही उसपर पर्दा भी पड़ सके, जो उसकी क्रूरताको मधुरतामें परिणत कर सके, कमसे कम

प्रतिरूपको सुन्दर बनाकर दिखला सके। यह स्मरण रखना चाहिये कि जिन लोगोंने इसको वर्त्तमान रूप दिया है वह राजपुरुष या सरकारी अहलकार न थे। उनका राजकी निरंकुशताके समर्थनमें कोई अपना स्वार्थ न था। वह तो दार्शनिक विद्वान थे। हाँ, यह ठीक है कि उनपर विशेषतः इस मतके प्रवर्तक हेगेलपर, तत्कालीन परिस्थितियोंका प्रभाव पड़ा था। हेगेल जर्मन थे। उन्होंने नेपोलियनके समयके दुखी, दुर्बल, छिन्नभिन्न और आभ्यन्तर कलहसे जर्जर जर्मनीको देखा। वह चाहते थे कि वह पुनः उन्नत, बलवान और प्रजाहित-साधनमें समर्थ हो। इस भावनाका उनकी विचारधारापर निःसन्देह प्रभाव पड़ा। अपने विचारोंके निष्कर्षस्वरूप उन्होंने जो सिद्धान्त स्थिर किया वह जर्मनीके तत्कालीन शासकोंको भी अभिप्रेत था। उन्होंने उसको अपनी राजनीतिका आधार बनाया। यह अध्यात्मवादके जन्मकी कथा है। पर यह जर्मनीके संकुचित घेरेमें देरतक न रहा। थोड़े ही दिनोंमें उसने भौगोलिक सीमाओंका उल्लंघन कर दिया और सार्वभौम बन गया।

प्लाटोकी भाँति हेगेल मुख्यतः राजशास्त्री न थे। उनका राजविषयक सिद्धान्त एक गौण वस्तु था। उनकी प्रधानकृति तो उनका दार्शनिक या आध्यात्मिक आदर्शवाद, संक्षेपतः अध्यात्मवाद था। यह इस पुस्तकका प्रत्यक्ष विषय नहीं है, फिर भी इसका संक्षेपतः उल्लेख करना लाभप्रद होगा।

हेगेलने अपने पारिभाषिक शब्द यूनानके तर्कशास्त्रसे लिये हैं। उनका कहना है कि जगत्का विकास एक विशेष प्रणाली के अनुसार हुआ है जिसको द्वन्द्ववाद कहते हैं। इस प्रणाली को किसी पुरुष विशेष, किसी ईश्वरने अपने सङ्कल्पसे नहीं स्थिर किया, प्रत्युत यह जगत्का, जगत्के उपादान कारणका, उस पदार्थका जिससे जगत्का विकास हुआ है, धर्म है, स्वभाव है जो अन्यथा हो ही नहीं सकता। इस प्रणालीका परिवर्तित होना वैसा ही असम्भव है जैसे अग्निसे दाहकता धर्मका पृथक् होना। किसी वस्तु विशेषको किसी क्षण विशेष में लीजिये। उस समय उसकी जो अवस्था होगी वह हेगेलकी परिभाषामें 'वाद' कहलायेगी। दूसरे ही क्षणमें, या यों कहिये कि आपके निरीक्षणके क्षणमें ही, वाद अपनेसे विपरीत अवस्थाको अभिव्यक्त करता है। इस विपरीत अवस्थाको 'प्रतिवाद' कहते हैं। तीसरे क्षणमें वाद और प्रतिवादके संयोगसे एक नयी अवस्था उत्पन्न होती है जिसे 'युक्तवाद' कहते हैं। अब यह युक्तवाद स्वयं उस वस्तुका नया स्वरूप अर्थात् नया वाद हो गया। यह अपना प्रतिवाद और वादवाले क्षणमें नया युक्तवाद उत्पन्न करेगा। यों ही विकास होता है। प्रत्येक अवस्थाके भीतर पहिलेकी सब अवस्थाएं निहित हैं क्योंकि वह अवस्था पहिलेके सभी वादों, पहिलेकी सभी अवस्थाओं की सन्तान है। प्रत्येक अवस्थाके गर्भमें आनेवाली सभी अवस्थाएं हैं क्योंकि वर्तमान अवस्था ही वाद प्रतिवादादि क्रम से भविष्यत् अवस्थाओंमें परिणत होनेवाली है।

इस सिद्धान्तका द्वन्द्ववाद नाम सार्थक है क्योंकि इसमें जो बात प्रतिपादित की गयी है वह यह है कि यह विश्व द्वन्द्वात्मक है। जो कुछ भी है वह अपने साथ ही अपने विपरीतको लिये फिरता है। विपरीतके अस्तित्वके बिना वस्तुको प्रतीति हमको हो ही नहीं सकती। स्थूल रूपमें यह ऐसा ही कहना है कि रातके अस्तित्वसे ही हमको दिनकी अनुभूति होती है, जीवनका भान साथ लगी हुई मृत्यु कराती है। पर यह बहुत ही स्थूल ढंग हुआ। हेगेल जो कहते हैं उसको समझनेके लिये और सूक्ष्म विचार करना चाहिये। साधारणतः जब हम किसी वस्तुकी किसी अवस्थाको देखते हैं तो उसकी उल्टी अवस्था हमारे सामने नहीं होती। परन्तु हेगेलका कहना है कि वह उस समय भी रहती है। प्रतिवादके बिना वादकी अनुभूति वैसा ही असम्भव होगी जैसे पटके बिना चित्रकी। यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि यह द्वन्द्वात्मक विकास केवल स्थूल वस्तुओंमें नहीं होता। सारा जगत् इसी नियमके भीतर चलता है। यह भी स्मरण रखना होगा कि इसका क्षेत्र केवल भौतिक जगत् नहीं है। मानस जगत्—हमारे विचारों, भावों और सङ्कल्पोंका जगत्—भी इसी डोरमें बँधा है।

हेगेल आत्मवादी थे। उनका मत है कि जगत्का मूल तत्व अहम् (मैं)—शुद्ध प्रत्यगात्मसत्ता—है। वह एक है अनेक नहीं। परन्तु उसकी अनुभूति (के साथ साथ ही उसके

विपरीत अनहम् (न मैं की अनुभूति) होती है। अनहम् अहम्से भिन्न पदार्थ नहीं है, पर बिना उसकी प्रतीतिके अहम् की प्रतीति नहीं हो सकती। मैंके अनुभवके साथ साथ यह भी अनुभव रहता है कि ऐसा भी कुछ है जो 'मैं' नहीं है, जो मेरे मैं से भिन्न है। मैं के अनुभवका अर्थ है इस 'न मैं' से 'मैं' की पृथक्ताका अनुभव। बस इ हीं दोनों मैं और न—मैं से इस विशाल जगत्की उत्पत्ति हुई है।

पाश्चात्य जगत्के लिये यह सिद्धा त क्रान्तिकारी था, परन्तु भारतमें इसका प्रतिपादन बहुत पहिले हो चुका था। हाँ, यहाँ इसे द्वन्द्ववाद जैसा कोई नाम नहीं दिया गया। अद्वैत वेदान्त और सांख्यने इसी प्रणालीका अनुसरण किया है। शाङ्कर वेदान्त के अनुसार केवल एक पदार्थका अस्तित्व है। वह सत् पदार्थ ब्रह्म है। तत्वमसि आदि महावाक्योंके द्वारा यह बतलाया गया है कि वह हमारे अहम्से अभिन्न है। वह पदार्थ एक है, अद्वय है, अखण्ड है, एकरस है। पर इसके साथ ही इससे सर्वथा अभिन्न परन्तु स्वरूपमें विपरीत असत् मायाकी प्रतीति होती है। यदि ब्रह्म वाद है तो माया प्रतिवाद है। इन दोनोंका युक्तवाद ईश्वर है। ईश्वर भी वाद होता है। उसका प्रतिवाद आया, चिच्छक्ति होती है। इन दोनोंका युक्तवाद प्रत्यगात्मा, पुरुष, जीवात्मा है। माया असत् है, इसी लिये वेदान्ती मायाकी सन्तति, इस जगत्को मिथ्या बतलाता है। मिथ्या होते हुए भी अनुभवकालमें तो यह सत्य है ही, ठीक

वैसे ही जैसे कि रस्सी होते हुए भी हमको अँधेरेमें सर्पकी अनुभूति होती जो अनुभूतिकालके लिये हमारे लिये सच है।

यहाँतक तो वेदान्तकी बात हुई। इसके आगेका क्रम साङ्ख्यदर्शन बतलाता है। पुरुषका प्रतिपाद्य प्रधान, मूल प्रकृति, अविद्या है। इन दोनोंका युक्तवाद बुद्धितत्व महत् है। उससे चलकर हम क्रमशः अहङ्कार, मन आदिसे होते हुए इस विस्तृत चराचरात्मक विश्व, भौतिक और मानस जगत् तक पहुँचते हैं। यह एक ब्रह्मतत्व अपने प्रतिपाद्य मायासे मिलकर नानात्वको प्राप्त हुआ है।

मेरे कहनेका यह तात्पर्य्य नहीं है कि वेदान्त और साङ्ख्य के सिद्धान्त पूर्णतया मिलते जुलते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि दोनोंमें बहुत भेद है। मैं यह भी नहीं कह रहा हूं कि जिस बातको व्यास, शङ्कराचार्य्य और कपिल कहते हैं उसी बात को हेगेल और उनके अनुयायी दूसरे शब्दोंमें दुहरा रहे हैं। बात इतनी सीधी नहीं है। ऐसा मान लेना इन तीनों आचार्य्यों और इनकी शिष्य परम्पराके साथ अन्याय करना और इनके सिद्धान्तोंको गलत तरहपर रखना होगा। हाँ, इतना मैं निःसन्देह कहना चाहता हूँ कि दोनों ओर की विचार धाराओंमें कुछ कुछ साम्य है। यदि जड़ और चेतन, शरीर, अन्तःकरण और आत्माको पृथक् पृथक् न मानकर जगत्को किसी एक अद्वय सत्पदार्थका विकसित रूप मानना हो तो किसी न किसी प्रकारसे द्वन्द्ववादको ही मानना पड़ेगा।

इससे हृदय प्रत्यक्ष अनुभूत, नाना रंगके साथ वास्तविक, गम्भीर मननके विषय, एकत्वका सामञ्जस्य और समन्वय हो जाता है।

यह हेगेलके आध्यात्मिक सिद्धान्तका बहुत ही अपूर्ण दिग्दर्शन है। अब मैं उनके राज विषयक सिद्धान्तको समझानेका प्रयत्न करूँगा। इतना तो स्पष्ट हो ही गया होगा कि हेगेलका जो भी वक्तव्य होगा वह गम्भीर दार्शनिक रंगमें रंगा होगा।

पहिली बात तो यह है कि राजका विकास भी द्वन्द्वन्याय के ही अनुसार होता है। यह भी प्रतिक्षण संस्कारको प्राप्त होता रहता है।

राजके अन्तर्गत हजारों-लाखों व्यक्ति होते हैं। इन सबके संयोगसे ही राज बनता है। परन्तु संयोग दो प्रकारका होता है। बहुत सी ईंटोंका एक ढेर भी ईंटोंका संयोग है, ईंटोंका बना हुआ घर भी ईंटोंका संयोग है। लड़ाईके मैदानमें पड़े हुए सिर, पैर हाथ आदिके ढेरमें भी संयोग है, मनुष्यके शरीरमें भी सिर, पैर आदि अंगोंका संयोग है। यह दोनों संयोग एक ही प्रकारके नहीं हैं। एक संयोगमें प्रत्येक टुकड़ेका पृथक् व्यक्तित्व बना रहता है। सब टुकड़े एक दूसरेके पास पास रख भर दिये जाते हैं, दूसरे प्रकारके संयोगमें टुकड़ोंका पार्थक्य जाता रहता है वह सब एक दूसरेके सम्पूरक बनकर एक अंगी बनाते हैं। हमारे शरीरमें हाथ या पाँव अपने लिये

नहीं, वरन् शरीरके लिये हैं, उसके जीवनका महत्व इस बातमें है कि वह शरीरके जीवनका साधक है। यदि कोई अंग शरीर की उन्नतिसे स्वतन्त्र रहकर पनपना चाहे तो वह भद्दा लगेगा और नश्तर लगाकर काट दिया जायगा। जितना ही अङ्ग अपनी पृथक् सत्ताको अङ्गीकी सत्तामें खो देते हैं उतना ही संयोग सफल होता है और उनका जीवन सार्थक होता है। पान, कत्था, चूना, सुपारी, सबका अपना अलग अलग स्वाद है। इन पृथक् स्वादोंका अनुभव हो सकता है और इनको पास पास रखनेसे एक ही पानदानमें बन्द करने पर भी ज्योंका त्यों बना रहता है। पर बीड़ा लगाया जाता है तो उसमें एक नये स्वादका अनुभव होता है। यह स्वाद निःसन्देह ही पान, कत्थे, चूने और सुपारीके मेलसे उत्पन्न हुआ है पर अपूर्व है, पृथक् पृथक् इनमेंसे किसीमें न था।

इन दोनों प्रकारके संयोगोंमें क्या अन्तर है? एकमें केवल सान्निध्य—निकटता, पास रहना, दूसरेमें संघटन—किसी नियमके अनुसार किसी प्रयोजनको सामने रखकर, मिलाया जाना। संघटनसे जो अवयवी बनता है वह अपने अवयवोंका समूह मात्र नहीं होता, उनसे एक पृथक् सत्ता रखता है। पेड़ अपनी डाल, पात, आदिका समूह मात्र नहीं है शरीर हाथ पाँव नाक कानका समूह मात्र नहीं है। बीड़ा कत्था, चूना, सुपारीका समूह मात्र नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकारके संयोगसे जो अंगी बनता है उसकी एक पृथक् आत्मा

ही होती है। वह ऐसे काम करता है जो उसके पृथक् अंगोंके कामोंसे नितान्त भिन्न होते हैं। अत सघटन मूलक संयोगसे एक नयी आत्मा, धर्मोंकी सृष्टि होती है।

मनुष्योंका भी इस प्रकारका संयोग होता है। सड़कपर सैकड़ों आदमी चलते रहते हैं पर उनमेंसे हर एक हर दूसरे आदमीसे स्वतन्त्र है। सबका अपना अलग काम है, अलग प्रयोजन है। आपसमें कोई सम्बन्ध नहीं है। पर जब कभी लाख पचास हजार आदमी कुम्भके मेलेके लिए एकत्र हो जाते हैं तो दूसरी बात हो जाती है। सबका एक ही प्रयोजन रहता है। सब अपनेको यात्री मानते हैं कुछ देरके लिए सब का हित एक हो जाता है सब एक स्वरसे बोलते हैं। थोड़ी देरके लिए ऐसी बातोंके लिए तैयार हो जाते हैं जैसे खुले मैदानमें पड़े रहना, पास पास झोपड़ी बनाकर रहना सकुचित स्थानमें खाना पीना जल्दीसे जलमें एक डुबकी लगाकर निकल आना इत्यादि, जो इनमेंसे किसीको भी अलग अलग पसन्द नहीं है। यह सब इसलिये होता है कि मेला थोड़ी देरके लिये सघटित समूह होता है। पाठशाला उससे अधिक देरके लिए सघटित रहता है और सघटनसे उत्पन्न आत्माका बड़ा अच्छा उदाहरण है। लोग अपने स्कूल या कालिजकी इज्जतके लिये खेलते हैं रुपया जमा करते हैं दूसरोंसे लड़ जाते हैं। दूसरा उदाहरण सेनाका है। ऐसा प्रतीत होता है कि सेना सिपाहियोंका भीड़मात्र नहीं है उसकी भी अपनी एक पृथक् स्वतन्त्र आत्मा होती है।

मेला अल्पकालीन संघटन है, पाठशाला या सेना उसकी अपेक्षा दीर्घ कालीन हैं। परन्तु राज तो इन सबकी अपेक्षा चिरजीवी है। राजके बिना तो व्यक्ति पाया नहीं जाता। हम पिपयमुगमें देख चुके हैं कि राजके द्वारा मनुष्यके जीवन की मौलिक आवश्यकताओंकी पूर्ति होती है। यदि राज न हो तो मानव जीवनका या तो अन्त ही हो जाय या कमसे कम वह मानव जीवन न रह जाय। अतः राज एक ऐसा संघटन है जो मानव समाजके साथ उत्पन्न हुआ और उसके साथ ही समाप्त होगा। मनुष्योंके संघटित समूह होनेके कारण राजमें भी वह धर्म पाया जाता है जो सभी संघटित समूहोंका लिंग है, उसकी भी अपनी पर आत्मा है। राज आकस्मिक भीड़ नहीं है, उसकी सत्ता अपने अवयवभूत व्यक्तियोंकी सत्तासे अवश्य ही आविर्भूत हुई है या वह उनको अतिक्रमण करती है, उनसे पृथक्, स्वतन्त्र है।

जब यह बात स्पष्ट हो गयी तो यह भी स्पष्ट ही है कि व्यक्ति और राजका सम्बन्ध अङ्ग और अङ्गीका है। व्यक्तिके जीवनकी सार्थकता वहींतक है जहाँतक उससे राजके जीवन का पोषण होता है। उसका अपना कोई महत्त्व नहीं है। वह राजके सामने उतना ही महत्त्व रखता है जितना शरीरके सामने उसके किसी अंगका एक मूलरोम। उसकी अपनी उन्नतिका कोई अर्थ नहीं है। राजकी उन्नतिमें उसकी उन्नति है, राजकी अवनतिमें उसकी अवनति है। राजके हितके लिए

उसकी बलि उसी प्रकार होगी जिस प्रकार शरीरके हितके लिये किसी अंगकी होता है। जबतक व्यक्ति अपने पार्थक्यका अभिमानी रहेगा, जबतक वह अपनेको राजसे पृथक्, अपने हितको राजके हितसे पृथक् समझता रहेगा तबतक वह दुखी रहेगा, उसका जीवन अपूर्ण रहेगा, जब वह राजसे अपनेको पूर्णतया अभिन्न जान लेगा उसी समय उसका जीवन पूर्ण हो जायगा, वह सुखी होगा।

यदि यह बात ठीक है तो व्यक्ति कोई भी काम ऐसा नहीं करेगा जो राजके हितके विरुद्ध हो, क्योंकि जो राजके हितके विरुद्ध है वह उसके निजी हितके विरुद्ध है और अपने निजी हितका हनन तो कोई पागल ही कर सकता है। काम, आचरणके मूलमें इच्छा सकल्प होता है। इसलिये यह मानना चाहिए कि प्रत्येक समझदार व्यक्तिकी यही इच्छा होगी, प्रत्येक ऐसे व्यक्तिका यही सकल्प होगा जो उस समय राजकी इच्छा होगी, राजका सकल्प होगा। राज अपनी इच्छाओं और सकल्पोंको अपने कानूनों, अपनी विधिनिषेधात्मक आज्ञाओंके द्वारा प्रकट किया करते हैं। अत प्रत्येक समझदार व्यक्तिकी इच्छा और सकल्प राजके कानून और आज्ञाओंके अनुकूल होंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्तिको राजके कानूनोंमें अपने मनोभावोंकी झलक देख पड़ेगी, उसको प्रत्येक राजाज्ञाके विषयमें यह प्रतीत होगा कि ऐसा ही होना चाहिये था, मैं भी यही चाहता था। चाहे पहिले वह बात न भी

सूझी हो, पर एक बार राज्यकी ओरसे घोषित हो जानेपर उसमें अपना पूरा पूरा स्वारस्य, पूरी पूरी सहमति देनी चाहिये।

तज्जनित लोभ, मोह, काम आदि विकारोंके कारण कलुषित रहता है। साधारणतः हम इसीसे काम लेते हैं। इसलिये अपने हिताहितको ठीक-ठीक पहिचान नहीं पाते। ज्यों-ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता है और अनुभव परिपक्व होता है, त्यों त्यों दृश्य सङ्कल्प परिमार्जित होता है। परिमार्जनका अर्थ है बुद्धिसे अविद्याका आवरण उठना। जब आवरण उठ जायगा तो दो बुद्धियोंका भेद मिट जायगा। अधम रूप उत्तम रूप हो जायगा, दृश्य सङ्कल्पका तिरोभाव हो जायगा और विशुद्ध वास्तविक स्वरूप रह जायगा।

यह हमारा वास्तविक सङ्कल्प राजके सङ्कल्पसे अभिन्न है। विशुद्ध बुद्धि सच्चे हिताहितको पहिचानकर वास्तविक सङ्कल्प द्वारा, जो राजहित साधक सङ्कल्पसे पूर्णतया मिलता होगा, हितकी सिद्धिका उपाय करेगा पर अधिकांश लोगोंमें यह वास्तविक सङ्कल्प दबा रहता है। यदि वह उद्बुद्ध होता तो वह राजसङ्कल्पसे मिलता। इस मतके अनुसार चोर, डाकू तकका वास्तविक सङ्कल्प उन कानूनोंका समर्थन करता है जिनका प्रत्यक्षमें वह अपने दृश्य सङ्कल्पके कारण विरोध करते हैं। बुद्धिका संस्कार शिक्षासे और अनुभवसे, यह समझकर कि राजाज्ञा हितकारी और श्रेयस्करी ही होती है, होता। अब समाजका कर्तव्य है कि सच्छिक्षाका प्रबन्ध करे ताकि व्यक्ति, राजसे अपने अभेदको समझे। व्यक्तिको भी बराबर इस बातपर मनन करके अपनी बुद्धिका परिष्कार

करना चाहिये। बोर्जांकेट कहते हैं 'अपनी वास्तविक इच्छा को ठीक-ठीक जाननेके लिये यह आवश्यक है कि हम अपनी क्षण विशेपकी इच्छाका सशोधन अपने अन्य क्षणोंकी इच्छाओंके द्वारा करें। पर हमारी इच्छा अन्य लोगोंकी इच्छासे टकराती है। अत हमको अपनी इच्छाका संशोधित रूप तभी प्राप्त हो सकता है जब हम उसका भाव दूसरोंकी इच्छाओंके साथ बैठा सकें। यह तभी सम्भव है जब हम दूसरोंकी क्षणिक इच्छाओंका सशोधन उनकी अन्य क्षणोंकी इच्छाओं द्वारा कर लें।

परन्तु इस क्रियामें समय लगता है और सम्भवत किसी एक व्यक्तिके जीवनमें यह काम पूरा होता भी नहीं। ऐसा स्यात् ही कोई व्यक्ति होगा जिसको राजके साथ ऐसी तन्मयता प्राप्त हो गयी हो कि वह राजके हर कामको अपना काम समझे, राजके प्रत्येक कानून, उसकी प्रत्येक आज्ञामें, अपनी इच्छा, अपनी बुद्धि, अपने सकल्पकी छाया देखे, राजकी किसी बातसे रुष्ट न हो। साधारण मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता। उसकी बुद्धि बहुत सी बातोंमें राजकी बुद्धिसे उलझती है। वह क्या करे? आदर्शवाद इस प्रश्नका सीधा उत्तर देता है। यदि व्यक्तिकी बुद्धि राजकी बातोंको ठीक ठीक ग्रहण नहीं कर पाती तो यह उसका दोष है। ऐसी दशामें व्यक्तिको अपनी बुद्धि सुलझानेका प्रयत्न करना चाहिये और चुपचाप राजकी आज्ञाको शिरोधार्य्य करना चाहिये। उसको

हो रहा था, प्रजाका बल बढ़ता जाता था। परन्तु जर्मनीमें एक पार्लियेमेण्टके होते हुए भी राजकी शक्ति अक्षुण्ण रही, क्योंकि शिक्षालयाने जर्मन जनताकी मनोवृत्तिको ठीक रखनेमें राजका पूरा पूरा हाथ बँटाया था।

अब हमको इस सिद्धान्तपर थोड़ा विचार करना है। यह तो प्रत्यक्ष है कि यह हमारे साधारण अनुभवके विरुद्ध जाती है। जैसा कि मैं पहिले कह चुका हूँ हममेंसे ऐसा कोई नहीं है जो अपनी इच्छाका हर बातमें राजकी इच्छाके साथ पूरे तादात्म्य, पूरी एकताका अनुभव करता हो। तब इस सार्वभौम अनुभवको निराधार माननेका क्या कारण है? इस बातको क्यों माना जाय कि हमारे भीतर हमारे दृश्य सङ्कल्प के सिवाय एक वास्तविक सङ्कल्प, उत्तमस्व, शुद्ध बुद्धि है यह बुद्धि प्रत्येक व्यक्तिमें पायी जाती है और राजकी बुद्धिसे सर्वथा मिलती है? यह ठीक है कि हम सब अपना हित चाहते हैं, यह भी समझते हैं कि हमारा हित उस समयतक नहीं हो सकता, जबतक कि हमारा समाज, हमारा राज सुखी और समृद्ध न हो, इसलिए हम सब यथाशक्ति राजके लिए अपने निजी सुखोंकी बलि करनेको तैयार रहते हैं। पर यह इसलिये होता है कि हमको राजके अस्तित्वसे और उसके शक्ति सम्पन्न होनेसे प्रत्यक्ष लाभ देख पड़ते हैं। हम राजकी बात इसलिए मानते हैं कि विचार करनेमें यह हमको ठीक जँचती है। यह कोई दार्शनिक सिद्धान्त या आध्यात्मिक अनुभव नहीं,

व्यावहारिक प्रत्यक्ष है। जो बात हमको ठीक नहीं जँचती उसके विषयमें यह मान लेना कि यदि हमारी छिपी हुई शुद्ध बुद्धि काम करती तो वह उसे समझ पाती निराधार कल्पना प्रतीत होती है। यह भी कैसे मान लें कि सबकी शुद्ध बुद्धि एक ही बातको ठीक मानेगी? एक गाँवमें पूँजीपति भी रहते हैं और समष्टिवादी भी। दोनों ही अपना हित चाहते हैं और इसके साथ ही, समाजका, मनुष्यमात्रका कल्याण चाहते हैं। पर जिसमें एक कल्याण देखता है, उसीको दूसरा क्लेशकारी समझता है। यह कैसे मान लें कि इन दोनों समुदायों की शुद्ध बुद्धियाँ किसी एक जगह मिल जायँगी? किसी पुराने हिन्दू राजमें भंगी, डोम आदि अन्त्यज मानी जानेवाली जातियोंको सब राजनीतिक अधिकारोंसे ही नहीं, वरन् अच्छे घरों, साफ सुथरे कपड़ों, पालकीकी सवारी आदिसे तथा धर्मदर्शनसे वंचित रखना द्विजोंकी दृष्टिमें ठीक था। पर यह कैसे माना जाय कि अन्त्यजोंकी अन्तरात्मा भी इन बातोंको उचित स्वीकार करती थी? औरंगजेब हिन्दू मन्दिर ढहा दिये और हिन्दुओंसे जजिया लेता था। क्या ऐसा माननेका कोई भी आधार है कि हिन्दुओंकी शुद्ध बुद्धि राजकी इस हिन्दू धर्मविरोधिनी नीतिको श्रेयस्कर मान लेती? यह कैसे मान लें कि भारतीय जनताका उत्तम स्व ब्रिटिश राजकी भारतीय नीतिको हृदयङ्गम कर लेगा?

फिर, दार्शनिक शब्दाडम्बर छोड़कर देखिये तो 'राजकी

इच्छा', 'राजका सङ्कल्प' इत्यादिका तात्पर्य क्या है। इन शब्दों का उतना ही अर्थ है जितना कि 'समयकी पुकार', 'कुलकी इज्जत' आदि लाक्षणिक शब्दोंका होता है। एक लम्बी बात थोड़ेमें कह दी गयी, पर इससे कुल या समय या राज नामका कोई प्राणी उत्पन्न नहीं हो गया। राजका संकल्प राजमें शासन करनेवालोंका यानी सरकारका सङ्कल्प है। राजकी इच्छा शासकोंकी इच्छा है। शासक लोग अमूर्त, अव्यक्त, देवता नहीं हमारे जैसे मनुष्य होते हैं। वह भी रागद्वेषादिसे अभिभूत होते हैं। उनको भी सर्वज्ञता प्राप्त नहीं है, अर्थात् उनकी बुद्धियाँ भी पूर्णतया परिपक्व नहीं होतीं। अतः उनसे भी भूलें होंगी। जितना ही उनपर नियन्त्रण कम होगा जितने ही उनको निरङ्कुश अधिकार दिये जायँगे उतना ही उनसे और गलतियाँ होंगी। अधिकारका मद बुरा होता है। मनुष्य होनेके कारण वह भी ऐसा प्रयत्न करेंगे, ऐसी आज्ञाएँ निकालेंगे, ऐसे कानून बनायेंगे, जिससे उनके और उनके उत्तराधिकारियोंके स्थान सुरक्षित रहें, शासनकी लगाम दृढ़ताके साथ सदाके लिए उनके ही हाथोंमें रह जाय। प्रत्येक विभिन्न व्यक्तियोंमें वह भले ही निष्पक्ष हों, पर अपने साथ उनका पक्षपात स्वाभाविक मानवता होगी।

और फिर 'राजके हित' का ही क्या अर्थ है? राजका ऐसा कौनसा हित है जो राजके सदस्या, राजा तर्गत व्यक्तियों के हितोंसे विभिन्न और ऊपर है? यह तो ठीक है कि कभी-

कभी बहुसंख्यक लोगोंका हित अल्पसंख्यक लोगोंके हितके विरुद्ध होता है। उस समय साधारणतः बहुसंख्यकोंके हित का साधन करना पड़ता है, चाहे अल्पसंख्यकोंकी क्षति भी हो जाय। यदि अल्पसंख्यकोंके हाथमें शासनकी बागडोर है तो बहुसंख्यकोंके हितको भी ठुकराया जा सकता है। नाम राजका भले ही लिया जाय, पर सब जानते-बूझते हैं कि एक विशेष वर्गके हितकी बात सोची जा रही है। ऐसे काम भी राज करता है जिनसे सभी या प्रायः सभीका लाभ होता है। उस अवस्थामें यह कहेंगे कि राजका हित व्यक्तिका हित है। पर यदि राज कोई ऐसा काम करता है, अर्थात् राजके नामपर सरकार कोई ऐसा काम करती है जो किसीको या एक बड़े समुदायको अनिष्टकर प्रतीत होता है उस समय शासकोंका विरोध क्यों न किया जाय? राजका यह कौनसा कपोलकल्पित हित है जो राजके अन्तर्गत व्यक्तियोंका हित नहीं है? सरकारके अग्रभूत मनुष्योंकी बुद्धिके आगे अपनी बुद्धिका सिर क्यों झुका दिया जाय? इससे तो उनकी निरंकुशता और अधिकार लिप्सा और बढ़ेगी और उनके हाथों लोगोंका और भी अनिष्ट होगा।

सार्वजनिक कामोंकी कसौटी यह नहीं हो सकती कि उनका कर्तृत्व राजके जिम्मे है वरन् यह कि उनके औचित्यको हमारी बुद्धि ग्रहण करती है। इसलिये केवल दार्शनिक परिभाषाके जोरपर राज अर्थात् शासक अपने कामोंका दायित्व जनतापर अर्थात् राजके व्यक्तियोंपर नहीं डाल सकते। व्यक्ति

राजके उन्हीं कामोंके लिये दायी है जिनको उसकी बुद्धिपूर्ण सक्रिय स्वीकृति प्राप्त हो।

इन आक्षेपोंका उत्तर यह दिया जाता है कि अभीतक विकासकी कमीके कारण जितने भी राज हुए हैं उनमेंसे कोई भी आदर्शतक नहीं पहुँचा। सबमें कमियां रही हैं। उनके शासकोंमें अनेक प्रकारकी कमज़ोरियां रही हैं, उन्होंने बहुत सी भयङ्कर भूलें की हैं एवं काम कर बैठे हैं जो लोकहितके विरुद्ध रहे हैं। यह उत्तर कोई उत्तर नहीं है। हो सकता है कि आदर्श राजमें शासक भी आदर्श शासक होंगे। उस समय प्रजा भी आदर्श प्रजा होगी। व्यक्ति सहर्ष अपने व्यक्तित्वको दबाकर राजके प्रत्येक कामको अपने वास्तविक सङ्कल्प द्वारा प्रेरित मानकर उसको शिरोधार्य कर लेगा। पर आज न वैसा राज

नोट—ऊपर हमने 'राज' शब्दकी व्यावहारिक व्याख्याको लेकर ही विचार किया है पर इसका बहुत व्यापक अर्थ भी लगाया जाता है। बोज़ाङ्केट कहते हैं 'राज केवल राजनीतिक संस्था नहीं है वरन् वह उन सब छोटी बड़ी संस्थाओंकी समष्टि है जिनके द्वारा जीवन निर्धारित होता है। उसमें परिवार, व्यापार, सम्प्रदाय, विश्वविद्यालय सभी अन्तर्भूत हैं। राज ही वह वस्तु है जो इन सबको सजीव और सार्थक बनाता है।" हेगेल तो राजकी प्रशंसामें गद्य काव्यकी रचना करने लग जाते हैं। उनके कथनानुसार राज ही मनुष्यके जीवनको आध्यात्मिक सत्यता देता है। राजकी सत्ता जगतमें परमात्माकी गति है। 'विश्वात्मा पृथ्वीपर अपने स्वरूपका ज्ञानपूर्वक अनुभव राजके रूपमें

है, न वैसे शासक, इसलिये वैसे शासित व्यक्ति भी नहीं हो सकते। राज एक व्यावहारिक संगठन है, उसमें एक अति-दूरस्थ आदर्शके सहारे काम नहीं चल सकता।

करता है।" यह सब गूढ़ वर्णन राजकी सत्ताको ऐसी सर्वव्यापक, सर्वाधारस्वरूप, बना देता है कि वह ईश्वरका विराट् रूप सहस्र-शीर्षा पुरुष, सहस्राक्ष सहस्रपात्' हो जाता है। इस विराट्में अपने ठीक स्थानको समझना समाधिके द्वारा ईश्वर साक्षात्कारके तुल्य प्रतीत होता है।

राजकी ऐसी व्यापक व्याख्या करनेसे उस शब्दकी महत्ता भले ही बढ़ जाती हो पर कोई दूसरा लाभ नहीं होगा। यदि राज शासक और शासितका संघटन है, तब तो राजाज्ञा राजभक्ति आदि शब्दोंका कुछ अर्थ भी निकल सकता है और राज्यके प्रति अपना कर्तव्य भी स्थिर किया जा सकता है पर यदि राज समाजके सम्पूर्ण जीवन पर फैला हुआ है तब तो किसी अवसर विशेष पर उसकी इच्छाका जानना प्राय असम्भव और अपना कर्तव्य स्थिर करना भी उतना ही असम्भव हो जायगा। व्यवहार में वही सरकार और प्रजाका भेद काम देगा।

३

द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद

आज कल पृथ्वीपर समाजवादका महत्व बढ़ता जाता है। रूसमें तो समाजवादी सरकार हो है दूसरे देशोंमें भी बहुतसे समाजवादी रहते हैं। पढ़ालखे लोगोंके विचारोंपर समाजवादकी छाप पड़े बिना नहीं रहती। जो लोग समाजवादके विरोधी हैं उनको भी इसको ध्यानमें रखना पड़ता है।

आधुनिक समाजवादके प्रवर्तक मार्क्स और एंगेल्स थे। इनके विचारोंका लेनिनने विकास किया और व्यवहारके क्षेत्रमें उतारा।

बहुधा लोगोंका ध्यान समाजवादके व्यावहारिक रूपोंकी ओर अधिक जाता है। समाजवादका पर्याय पूंजीवादका नाश समझा जाता है। पूँजीवादका नाश समाजवादका अवश्यम्भावी परिणाम अवश्य है पर उसका सर्वस्व नहीं है। उसका भी अपना एक दार्शनिक मत है। यह मत हेगेलके द्वन्द्ववादसे ही निकला है। मार्क्स और एंगेल्स भी ऐसा मानते हैं कि जगत्‌का विकास द्वन्द्व न्यायसे हुआ है पर उनके और आदर्शवादियोंके बीचमें एक बड़ी दीवार है। अध्यात्म

-वादी कहता है कि जगत्का मूल पदार्थ चेतन था, उसका स्वरूप अहम् अहम् (मैं मैं) था। समाजवादी आचार्योंका कहना है कि मूल पदार्थ अचेतन, जड़ था। वह अपने स्वभाव के कारण द्वन्द्वन्यायके अनुसार क्रमविकाससे इस विस्तृत जगत्के रूपको प्राप्त हुआ। चेतनता उसका आदिम धर्म नहीं है, बीचमें उत्पन्न हुई। जगत्के उस मूल तत्व उस जड़ पदार्थको जो सबका उपादान कारण है, जिससे सब कुछ बना है, प्रधान कहते हैं और समाजवादियोंके इस दार्शनिक विचारधाराको द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद कहते हैं। इस सिद्धान्त को समझना बहुत जरूरी है। नीचे मैं अपनी 'समाजवाद' नामक पुस्तकसे वह अंश उद्धृत करता हूँ जिसमें इसका दिग्दर्शन कराया गया है —

यह जगत् सत्य* है। कुछ लोग इसको स्वप्नवत् मिथ्या

* दर्शनका अध्ययन पाश्चात्य देशोंमें केवल सत्यका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए होता है। लोग यथासम्भव जगत्का स्वरूप, उसका कारण उसका विकास, जीव अजीवका रहस्य आदि समझना चाहते हैं। भारतमें दर्शनके अध्ययनका उद्देश्य मोक्ष है। समाजवादीका उद्देश्य इन दोनोंसे भिन्न है। वह जगत्का रहस्य इसलिए जानना चाहता है कि उसको समझकर जगत्को परिवर्तित कर सके। वह जगत्की वर्तमान अवस्थाको सुधार ईश्वर प्रारब्ध या नियतिपर नहीं छोड़ना चाहता। जैसा कि मार्क्सने कहा है 'दार्शनिकोंने जगत्को अनेक प्रकारसे समझने की चेष्टा की है, प्रश्न यह है कि उसको परिवर्तित कैसे किया जाय।

मानते हैं पर यह उनकी भूल है। इसके मिथ्यात्वका कोई प्रमाण नहीं है। उस पदार्थको सत्य कहते हैं जिसकी सत्ता द्रष्टासापेक्ष न हो अर्थात् जिसकी सत्ता किसी साक्षीपर निर्भर न हो। मैं अपने कमरेमें बैठा हूँ। मेरे सामने एक पुस्तक है। यह कहा जा सकता है कि यह पुस्तकरूपी दृश्य मेरे अन्तःकरणरूपी द्रष्टाकी अपेक्षा करता है अर्थात् यदि मैं इसका अनुभव करनेवाला न होता तो इस पुस्तकका अस्तित्व लुप्त हो जाता। इसपर यह आपत्ति की जा सकती है कि मैं हूँ या न हूँ पुस्तक रहेगा। इसके जवाबमें यह कहा जाता है कि मैं न सही कोई न कोई अन्तःकरण तो उसका अनुभव करनेवाला होगा। यदि यह बात ठीक हो कि प्रत्येक वस्तुकी सत्ता किसी न किसी अनुभव करनेवाले अन्तःकरणकी अपेक्षा करती है तो क्या उस जगह जहाँ अनुभव करनेवाला पशु-पक्षी मनुष्य किसीका अन्तःकरण नहीं है वहाँ जगत् नहीं है? या जिस समय मनुष्यादि प्राणधारी नहीं थे, उस समय जगत्का अभाव था? यदि किसी समय ऐसा सब अन्तःकरण कहीं प्रसुप्त या

मेरा यह दावा नहीं है कि मार्क्स और एञ्जेल्सके दार्शनिक विचारकी जो व्याख्या मैं कर रहा हूँ वह उनके सभी अनुयायियोंको अभिमत है पर इसके साथ ही मेरा यह विश्वास है कि मैंने उसको कहीं विकृत नहीं किया है। भारतीय पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग मेरी सम्मतिमें सर्वथा उचित है और भारतीय विचारधारासे तुलना करनेमें सहायता देता है।

विलीन हो जायँ तो क्या जगत् न रहेगा? क्या सचमुच जगत् मनोराज्य है? जहाँ कोई अन्तःकरण नहीं है वहाँ मनोराज्य कैसे होगा? वहाँ तो केवल शून्यदिक् और शून्य काल रहेगा। पर दिक् और काल भी तो अन्तःकरण द्वारा अनुभूत या अनुमित होते हैं या कुछ लोगोंके विचारके अनुसार अन्तःकरणके ही धर्म हैं, फिर जहाँ अन्तःकरण न होगा वहाँ दिक् और कालकी सत्ता कैसे रह सकती है? इन सब प्रश्नोंके तीन प्रकारके उत्तर हो सकते हैं। एक तो यह कि वस्तुतः जगत् मिथ्या है। उसका अस्तित्व है ही नहीं। दूसरा उत्तर यह है कि ईश्वर त्रिकालका साक्षी है। उसके अन्तःकरण में जो सङ्कल्प विकल्प उठते रहते हैं वह जगत्रूपसे प्रतीत होते हैं। जहाँ और जिस समय और कोई साक्षी नहीं होता उस समय भी ईश्वर रहता है, इसलिए उसके मनोराज्यस्वरूप जगत् रहता है। जब मनुष्यादि कोई प्राणी नहीं था, तब भी ईश्वर था, इसलिए जगत् था। यही बात भविष्यकालके लिए लागू है। मार्क्स इन दोनों सिद्धान्तोंको नहीं मानते। उनका कहना है कि जगत् सत्य अर्थात् जब कोई अनुभव करनेवाला अन्तःकरण नहीं था, तब भी था और जब कोई अनुभव करनेवाला अन्तःकरण न होगा तब भी रहेगा।

जगत्के सत्य होनेका अर्थ यह है कि जगत् प्रवाह अनादि और अनन्त है। इसका जो रूप आज है वह पहले न रहा होगा, आगे भी न रहेगा। उसमें तो निरन्तर परिवर्तन होता

रहता है। परिवर्तन शीलता उसका मुख्य लिङ्ग है। यह प्रश्न तो निरर्थक है कि जगत्‌की उत्पत्ति किसमे हुई। इस प्रश्न करनेका तात्पर्य यह होगा कि एक दूसरा प्रश्न जगत्‌की उत्पत्ति के हेतुके विषयमें पूछा जाय। यदि कोई स्रष्टा माना जाय तो यह प्रश्न होगा कि उसने सृष्टि क्यों की ? इस सम्बन्धमें सभी देशोंके दार्शनिकोंने बहुत विचार किया है जिसको यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ इतना ही बतला देना पर्याप्त है कि मार्क्स जगत्‌का कोई आरम्भक या स्रष्टा नहीं मानते। जगत्‌का विकास अर्थात् उसके स्वरूपमें परिवर्तन किसी बाहरी शक्तिके अधीन नहीं है। उसकी भीतरी शक्ति उसका स्वभाव ही, उसके लिए प्रेरक है। इसलिए जगत्‌की प्रगति किसी विशेष दिशामें नहीं है। उसका कोई विशेष, निश्चित, उद्देश्य नहीं है।

जगत्‌के विषयमें पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेका हमारे पास कोई साधन नहीं है। यदि जगत् किसी लौकिक या अलौकिक व्यक्ति का मनोराज्य या उद्देश्यप्रसूति होता तो हम उस व्यक्तिके अन्तःकरणके साथ तादात्म्य प्राप्त करके उसको यथावत् जान लेते। वेदान्तके शब्दोंमें हमारा ज्ञान हस्तामलक ज्ञान होता पर जो पदार्थ स्वतन्त्र सत्ता रखता है और प्रतिक्षण परिवर्तन शील है उसको बुद्धिमें बाँधा नहीं जा सकता। पर ज्यों ज्यों हमारे ज्ञानके करणोंमें उन्नति होती आती है त्यों त्यों हमारा ज्ञान यथार्थज्ञानके सन्निकट आता जाता है।

जगत्‌का मूल स्वरूप क्या था ? इसके सम्बन्धमें दो प्रकार के उत्तर हो सकते हैं। एक प्रकारका उत्तर तो यह है कि मूल पदार्थ एक ही था। दूसरा यह है कि जीव और अजीव चेतन और जड़, दो पदार्थ थे इसीसे मिलता जुलता योग दर्शनका यह सिद्धान्त है कि मूलमें पुरुष, ईश्वर और प्रकृति तीन पदार्थ थे। एक पदार्थ माननेवाला अर्थात् अद्वैतवादी सिद्धान्त भी दो प्रकारका हो सकता है। एक तो यह कि मूल पदार्थ चेतन था। यह शङ्कराचार्य्य द्वारा प्रतिपादित वेदान्तका विशुद्धाद्वैतवाद है। इसीके अन्तर्गत वह सब सिद्धान्त हैं जो ब्रह्म या अन्यतम किसी पदार्थकी विकृतिमें जगत्‌का विकास मानता है। मार्क्स और एंगेल्स इनमेंसे किसी भी सिद्धान्तको नहीं मानते। वह अद्वैतवादी हैं पर उनका जगन्मूल अद्वय पदार्थ चेतन नहीं है। उनके अनुसार इस जगत्‌का मूल स्वरूप 'मैटर' था। इस पाश्चात्य 'मैटर' शब्दका पर्याय कुछ लोग भूत या तत्त्व करते हैं। मैटर पद महाभूतके लिए भी प्रयुक्त हो सकता है पर दार्शनिक परिभाषामें यह वह पदार्थ है जिससे जगत्‌का विकास हुआ है और जो स्वतः जड़ है भारतीय दर्शनमें उस पदार्थको जिससे अन्य पदार्थ निकलते हैं प्रकृति कहते हैं। जो पदार्थ किसी अन्य पदार्थसे निकलता है उसे विकृति कहते हैं। कोई कोई पदार्थ प्रकृतिविकृति हैं अर्थात् वह किसी पदार्थसे निकले हैं और इनसे कोई पदार्थ निकलता है। परन्तु जगत्‌का मूल प्रकृति

प्रकृति है। इसीसे उसे मूल प्रकृति कहते हैं। उसका दूसरा नाम प्रधान भी है। प्रधान जड़ है। उसकी सत्ता है पर उसमें चेतना नहीं है। उसका स्वरूप चित् नहीं केवल सत् है। यह प्रधान ही उच्च कोटिके यूरोपियन दर्शनका 'मेटर' है।

इस प्रधानसे, जो मूल अव्यक्त है, सारे जगत्का विकास होता है। सारा जगत—सारा चराचर विश्व—एक साथ ही नहीं निकल आता। क्रमशः एक पदार्थके पीछे दूसरा पदार्थ, एक अवस्थाके पीछे दूसरी अवस्था प्रकट होती है। सूक्ष्मसे सूक्ष्म और स्थूलसे स्थूल वस्तुएं, कीटाणुसे लेकर मनुष्यतक, परमाणुके अनभूत विद्युत्कणसे लेकर आकाशस्थ महासूर्यतक, रासायनिक तत्वोंसे लेकर बुद्धितत्त्व और चेतनातक, सभी इसीमेंसे अभिव्यक्त हुए हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि प्रधानका रूप विकृत कैसे होता है, उसमें परिवर्तन कैसे होता है?

प्रधानकी कोई भी अवस्था ले ली जाय, वह कई परस्पर विरोधी प्रवृत्तियोंकी साम्यावस्था होती है। यह विरोधी प्रवृत्तियाँ प्रसुप्त हों या उद्‌गार, पर जबतक वह एक दूसरीको सँभाले रहती हैं तबतक अवस्था एकसी रहती है। सांख्यके अनुसार भी सत्व, रज, तम अर्थात् तीनों परस्पर विरोधी गुणों की साम्यावस्था ही प्रधान है। प्रत्येक अवस्थामें विपरीत धर्म्म एक दूसरेसे समवेत रहते हैं। इस विपरीत समवायके द्वारा ही आगे चलकर विकास या परिवर्तन होता है। पर यह साम्या

-वस्था बहुत दिनोंतक नहीं रह सकता। जिन विपरीत तत्वोंका समावेश उस अवस्थामें होता है उनमें स्वभावत क्षोभ उत्पन्न होता है। धीरे धीरे एक कुछ प्रबल होने लगता है। उसकी मात्रा बढ़ती जाती है। बढ़ते बढ़ते एक ऐसी सीमातक पहुँच जाती है जब कि प्रधानकी यह पूर्वावस्था बदलकर नयी ही अवस्था, नया ही स्वरूप उत्पन्न होता है। इस प्रक्रियाको 'मात्राभेदसे गुणभेद' कहते हैं। उदाहरणके लिए जलको ले लीजिये। एक शक्ति है जो जलके परमाणुओंको एक दूसरेसे और आकृष्ट किये हुए है। दूसरी शक्ति उनको एक दूसरेसे पृथक् करती है। दोनोंकी साम्यावस्थामें जलका रूप रहता है। जब वियो-जक शक्तिकी मात्रा बढ़ने लगती है तो वह बढ़ते-बढ़ते एक ऐसी सीमातक पहुँच जाती है जब जलके गुणके स्थानमें दूसरे गुण प्रतीत होने लगते हैं और जलके स्थानमें भाप आ जाती है। यदि संयोजक शक्तिकी मात्रा बढ़ती तो गुणा-न्तरकी प्रतीति होती और जलके स्थानमें बर्फ देख पड़ती। यह नयी अवस्था प्रथम अवस्थासे विपरीत होती है अत इसे उसका विपरिणाम कहते हैं। परन्तु कुछ काल में जिस प्रकार पहली अवस्थासे दूसरी अवस्था बनी थी उसी प्रकार इस दूसरी अवस्थामें भी साम्यावस्थाका प्रणाश अर्थात् क्षोभ उत्पन्न होता है। अर्थात् यह भी बदलती है। इसका भी विपरिणाम उत्पन्न होता है। यह तृतीय अवस्था पहली अवस्थाके विपरिणामका विपरिणाम होता है। जिस प्रकार

द्वितीय अवस्था प्रथम अवस्थामें बीजरूपसे वर्तमान है उसी प्रकार तृतीय अवस्था द्वितीय अवस्थामें बीजरूपसे वर्तमान है। प्रत्येक अवस्था अपनी पूर्ववर्तीकी विपरीत होती है पर अपने गर्भमें उसका कुछ अंश ले आती है। इस प्रकार प्रत्येक उत्तरवर्ती अवस्थामें प्रत्येक पूर्ववर्ती अवस्थाका कुछ अंश विद्यमान रहता है। जो विपरिणामका विपरिणाम होता है उसमें मूल और विपरिणाम दोनोंका समन्वय होता है अर्थात् वह दोनोंके मुख्यांशोंकी साम्यावस्था होता है। इसके बाद उसकी दशा स्वयं मूल अवस्था जैसी होती है। क्रमात् उसका विपरिणाम और फिर विपरिणामका विपरिणाम उत्पन्न होता है। यों ही परम्परा चलती रहती है और तत्त्वसे तत्त्वान्तर, अवस्थासे अवस्थान्तर बनता रहता है। यही इस जगत्के विकासका क्रम है।

मार्क्स और एंगेल्सने हीगेलसे इस विकासक्रमको तो ले लिया है पर जगत्का मूल इनके अनुसार कोई चेतन ब्रह्म पदार्थ नहीं वरन् अचेतनप्रधान था। इसलिए इनका सिद्धान्त प्रधानवाद कहलाता है। ऊपर बतलाये हुए कारणसे उसके नामके साथ 'द्वन्द्वात्मक' विशेषण लगा हुआ है।

जब जगत्का मूल अचेतन था तो फिर किसी नित्य आत्मा के लिए स्थान ही नहीं रह जाता। इसलिए इसे द्वन्द्वात्मक अनात्मवाद भी कह सकते हैं। 'द्वन्द्वात्मक' जोड़ रहना अच्छा है, अन्यथा बौद्ध जैसे अनात्मवादी दर्शनोंसे भ्रान्ति होनेका डर

है। क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध दर्शन पुनर्जन्मको मानता है पर अवतक मार्क्स और एंगेल्सके अनुयायी ऐसा नहीं मानते।

नित्य आत्मा हो या न हो पर जगत्में चेतनाका अनुभव तो होता ही है। चेतनाके दो लक्षण हैं, ज्ञान और इच्छा—स्वयं प्रभावित होना और प्रभावित करना। जहाँ चेतना है वहाँ किसी न किसी प्रकारका अन्त करण है। किसी न किसी प्रकार मन अहङ्कार और बुद्धिका क्षेत्र है। अन्त करणकी विकसित अवस्थामें इसके गुण, राग द्वेष, ईर्ष्या, मत्सर, काम, क्रोध, औदार्य्य, दया, त्याग प्रेम इत्यादि भी न्यूनाधिक पाये जाते हैं। प्रधानवादी इनमेंसे किसीकी भी सत्ताका अस्वीकार नहीं करता। वह केवल दो बातें कहता है। पहिला तो यह कि इनमेंसे कोई भी किसी नित्य आत्माका गुण नहीं है। दूसरी यह कि जैसे प्रधानके विकासद्वारा अनेक पदार्थों, जैसे सोना, तांबा, कोयलाकी उत्पत्ति हुई है वैसे ही अन्त करण और उसके गुणोंकी भी उत्पत्ति हुई है। पृथ्वी करोड़ों वर्षोंतक प्रज्वलित वाष्पोंका पिण्ड थी। इसके भी करोड़ों वर्ष पीछे वह इस योग्य हुई कि उसपर कार्बन प्राणी रह सकें। जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई तब प्रधानसे अन्त करणकी भी अभिव्यक्ति हुई। ज्यों ज्यों परिस्थिति अनुकूल होती गयी त्यों-त्यों अन्त करणकी अभिवृद्धि होती गयी। किसी भी सभ्य देशका शिक्षित व्यक्ति करोड़ों वर्षोंकी प्रगतिका दायाद है।

परिस्थितिके अनुसार ही अन्त करणके गुणोंका अभि-

व्यञ्जन होता है। जैसे परिस्थितिके अनुसार प्रधानसे कहीं हिमालय पहाड़ निकला है, कहीं प्रशान्त महासागर, कहीं आकाशगङ्गा और कहीं अणु विद्युत्कण, उसी प्रकार परिस्थिति के अनुसार कहीं क्रूरता व्यक्त होती है, कहीं उदारता, कहीं क्षमा और कहीं क्रोध। मनुष्य ऐसा समझता है कि मैं स्वतन्त्र हूं, अपने संकल्पके अनुसार काम करता हूँ। यदि मेरी इच्छा होती है तो खड़ा होता हूँ नहीं तो बैठा रहता हूँ। यहाँ तक तो ठीक हो सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि संकल्प करनेका स्वातन्त्र्य कहाँ तक है? मेरा ऐसा संकल्प हुआ इसलिए मैं खड़ा हुआ पर क्या मैं दूसरे प्रकारका संकल्प कर सकता था? क्या मेरे अन्तःकरणमें सिवाय खड़े होनेके कोई दूसरा संकल्प उठ भी सकता था? जो लोग नित्य आत्मा मानते हैं उनके लिए ऐसा मानना सम्भव है, यद्यपि उनमेंसे भी बहुत से संकल्प स्वातन्त्र्यको भगवदिच्छा या अदृष्ट या किस्मतसे बँधा मानते हैं। प्रधानवादी कहता है कि प्रधानकी समस्त सन्तति एक ही सूत्रमें बँधी है। जो द्वन्द्वात्मक विकास क्रम परमाणुओं और पहाड़ोंकी गति विधिका नियन्त्रण करता है वही कीटसे लेकर मनुष्यतकके अन्तःकरणका नियमन करता है। किसी समय विशेषकी अवस्था जिन तत्वोंकी साम्यावस्था है उनमें मनुष्योंके अन्तःकरण भी हैं। परिस्थितिके अनुसार इस साम्यावस्थामें क्षोभ होगा अर्थात् इसके भौतिक और मानस दोनों प्रकारके अवयव क्षुब्ध होंगे। अन्तमें जो विपरि

णाम उत्पन्न होगा, उसमें भौतिक और मानस दोनों प्रकारके तत्वोंकी नयी अवस्था होगी। पानीका विपरिणाम भाप और बर्फ दोनों हो सकता है। यह बाहरकी परिस्थितिपर निर्भर है कि किसी काल और स्थान विशेषमें पानी किसमें परिणत होगा। ठीक इसी प्रकार परिस्थिति इसका निश्चय करती है कि अन्तःकरण कालान्तरमें कौनसा रूप धारण करेगा अर्थात् किस धर्मविशेषसे आच्छादित देख पड़ेगा। यदि स्वतन्त्र आत्माकी सत्ता होती तो उसके अपने स्वतन्त्र नियम होते परन्तु प्रधानके लिए तो एक ही नियम है।

जो नियम व्यष्टिके लिए है वही समष्टिके लिए लागू है। जो द्वन्द्वमान विकृतिप्रणाली भौतिक और व्यक्तियोंके मानस जगत्को परिचालित करती है, उसीके अनुसार व्यक्तियोंके समूहोंमें भी परिवर्तन होता है। आर्थिक, राजनीतिक, साम्प्रदायिक, सभी अवस्थायें इसी प्रणालीके अनुसार बदलती रहती हैं। लोग समझते हैं कि इतिहासका प्रवाह कुछ थोड़ेसे बड़े आदमियोंकी मनोवृत्तियोंका खेलमात्र है। ऋषि मुनि, धर्म्म प्रवर्तक, राजा, बादशाह, सेनापति, विद्वान्, नेता, बस इनके मनमें तरंगें उठती हैं और लाखों मनुष्योंके सुख दुःखकी धारा न्यारी हो जाती है। इसलिए इतिहासकी पोथियोंमें इन्हीं लोगोंके जीवन और कृत्योंका विस्तृत वर्णन रहता है, साधारण लोगोंका जिक्र यों ही गौण रूपसे आ जाता है।

प्रधानवादी ऐसा नहीं मानता। वह कहता है कि बड़े

आदमी और आदमियोंके समूह हठात् मानप्रणालीसे बाहर नहीं जा सकते। परिस्थितिके अनुसार उनमें भी परिवर्तन होता है। पर हाँ, जो पदार्थ जितना ही उन्नत होगा, उसके विकास को समझना भी उतना ही कठिन होता है।

मानव समुदायोंके इतिहासपर किस परिस्थितिका प्रभाव पड़ता है? ऋतु, देशकी भौगोलिक बनावट, समावस्थ वृक्ष और पशुपक्षी, इन सबका प्रभाव पड़ता है पर यह न्यूनाधिक स्थायी हैं। इनमें परिवर्तन होता भी है तो देरमें, अतः इनसे प्रभावस मूहका ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिवर्तन प्रायः नहीं होता। मार्क्स और एंगेल्सका कहना है कि समुदायका सांस्कृतिक जीवन आर्थिक व्यवस्थापर निर्भर है और यह आर्थिक व्यवस्था उत्पादनविधिपर निर्भर है। यह इतिहासिक सिद्धान्त इन लोगोंका विशेष आविष्कार है। हठधर्मीके कारण बहुत लोग अभी इसे स्वीकार नहीं करते पर इसके सिवाय कोई दूसरा सिद्धान्त है भी नहीं जो इतिहासके परिवर्तनोंको वैज्ञानिक ढंगसे समझा सके।

प्रधानवादी यह नहीं कहता कि लोग प्रतिक्षण आर्थिक बातोंको सोचकर उनके अनुसार काम करते हैं। देश या मज़हब या इज्जतके लिए मर मिटनेवाले, पीड़ितोंकी सहायताके लिए अपने सर्वस्वकी आहुति देनेवाले, रुपयों या रोटियोंके लिए यह सब नहीं करते। प्रत्यक्षतया तो वह ऊँचे नैतिक भावोंसे प्रेरित होते हैं और प्रधानवादी ऐसे भावोंका समादर

करता है। वह चाहता है कि लोगोंमें ऐसे भाव रहें। पर वह यह जानता है कि इन भावोंका उदय होना विशेष परिस्थितियों पर ही निर्भर है। आज भारतमें जैसे देशसेवा, त्याग, आत्मबलिदान भाव फैल रहे हैं वह कुछ समय पहिले नहीं फैल सकते थे। जो लोग इन भावोंसे प्रभावित हो रहे हैं उनके सामने तो ऊँचे उद्देश्य और आदर्श हैं पर उद्देश्यों और आदर्शोंको विशेष आर्थिक परिस्थितियोंने ही सम्भव बनाया है। अन्तःकरणपर इन परिस्थितियोंका जो प्रभाव पड़ रहा है वही प्रसुप्त उदार भावोंको जगा रहा है। यह प्रभाव ज्ञात नहीं है पर सत्य है।

ऊपर जो कुछ समासेन कहा गया है उसे इतिहासकी आर्थिक व्याख्या कहते हैं। इसमें इतिहासके बदलनेका श्रेय किसी अलौकिक व्यक्तिको इच्छाको नहीं दिया गया है। यह भी नहीं कहा गया है कि ऐतिहासिक परिवर्तनोंकी प्रेरणा आर्थिक हेतुओंसे मिलती है।

यहाँपर एक प्रश्न यह उठता है कि जब ऐतिहासिक परिवर्तन इस प्रकार होते हैं तो क्या हमको पहलेसे उनका ज्ञान हो सकता है? इसका उत्तर हाँ भी है और नहीं भी। किसी समय विश्वमें जो अवस्था होती है उसके अंगीभूत भौतिक पदार्थ—धातु, लकड़ी, परमाणु—या भौतिक शक्तियाँ—ताप, विद्युत, प्रकाश इत्यादि—भी होते हैं और अन्तःकरण भी। भौतिक पदार्थों और शक्तियोंमें सजातीय समता होती है।

एक टुकडे सोनेका व्यवहार दूसरेसे भिन्न नहीं होता, प्रकाश के नियम सर्वत्र एकसे होते हैं। अत किसी एक अवस्थाके पीछे इनकी क्या अवस्था होगी, यह कहा जा सकता है। परन्तु अन्तकरणोंमें विषमता होती है। दावेके साथ यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक विशेष अन्तःकरण ठीक अमुक प्रकारसे व्यवहार करेगा। अन्तकरण बाहरी परिस्थितिसे प्रभावित होता है पर उसको प्रभावित करता भी है। फिर अन्तकरण तो लाखों हैं। इसलिय वाद्को देखकर प्रतिवादके विषयमें यथार्थ भविष्यद्वाणी नहीं की जा सकती।

इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि ब्योरेवार भविष्यद्वाणी चाहे न की जा सके पर जो बुद्धिमान विकासक्रमको समझता है वह किसी अवस्था विशेषका विश्लेषण करके यह समझ सकता है कि इसकी साम्यावस्था किस दिशामें भग्न होने-वाली है। वह उसके भीतरकी शक्तियोंकी गतिविधि और परिस्थितिसे यह अनुमान कर सकता है कि अब इनमेंसे कौनसी शक्तियाँ आगरित और उग्र होने जा रही हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वह प्रतिवादके स्वरूपका चित्र खींच सकता है।

इस सिद्धान्तकी यही सबसे बड़ी विशेषता है। अन्य सिद्धान्तोंके सत्यासत्यका निर्णय तर्कसे ही हो सकता है। वेदान्त तर्कको तो नहीं मानता, 'तर्काप्रतिष्ठानात्' पर अपनी सत्यताकी कसौटी स्वसंवेद्य अनुभवको ठहराता है। परन्तु यह प्रधानवाद अपनी सत्यताकी परीक्षा व्यवहारसे करता

है। इसमें सिद्धान्त और व्यवहारकी एकता'पर विशेष प्रकार से जोर दिया जाता है। अपनी बुद्धिसे केवल तर्कके आधार पर सिद्धान्तका आविष्कार करनेके बदले जगत्के व्यवहारका वैज्ञानिक अनुशीलन करके सिद्धान्त स्थिर करना चाहिये और फिर इस सिद्धान्तसे जगद्व्यापार चलाना चाहिये। साधारण सुधारक उचित अनुचित, न्याय अन्यायकी कसौटीपर कसकर जो बात ठीक जँचती है उसे कार्य्यमें परिणत करना चाहता है। प्रधानवादी ऐसा नहीं करता। वह वैज्ञानिक शैलीसे चलता है। जिस प्रकार विज्ञानवेत्ता प्राकृतिक नियमोंको समझकर उनके अनुसार काम करता है और लाभ उठाता है, उसी प्रकार द्वन्द्वमान प्रधानवादका विद्यार्थी परिस्थितिका अध्ययन करके देखता है कि परिस्थिति स्वयं किधर झुकने-वाली है। उसी दिशामें प्रयत्न करता है। जो शक्तियाँ दबने वाली हैं उनको दबाकर जो प्रदीप्त होनेवाली हैं उनके आगरण में सहायता करता है। अतः जो प्रतिवाद् प्रकृत्या देरमें आता उसे जल्द ही स्थापित करा देता है। यहीं उद्योगकी उपयुक्तता सिद्ध होती है अन्यथा द्वन्द्वमान विकास तो स्वतः होता ही रहेगा।

इसी सिद्धान्तके आधारपर समाजवादका राजसम्बन्धी सिद्धान्त स्थिर है। समाजवादी कहता है कि दार्शनिक शब्दाडम्बरको छोड़कर देखनेसे प्रतीत होता है कि प्रत्येक समाजमें शासनका सूत्र उस वर्गके हाथमें होता है जिसको उत्पादनके

साधनोंपर स्वाम्य प्राप्त होता है। जिस समय उत्पादनका मुख्य साधन भूमि थी उस समय शासन भूमिपतियोंके हाथमें था। आज उत्पादनका मुख्य साधन व्यवसाय है, इसलिये शासनकी नकल पूँजीपतियोंके हाथमें है। जिस समय किसी वर्गके हाथमें हुकूमतकी बागडोर होती है उस समय वह ऐसा प्रयत्न करता है कि उसके हाथसे अधिकार निकल न जाय। इसलिए वह दूसरे वर्गोंको बराबर दबाता है। उसके बनाये कानूनोंका यही उद्देश्य होता है। समाजवादोंपर यह आरोप किया जाता है कि वह वर्गविद्वेषको बढ़ाता है। जमीनदारको किसानसे, मजदूरको मिल मालिकसे लड़ाता है। यह आरोप गलत है। समाजवादी चाहता है कि वर्गभेद मिट जाय, समाजमें परस्पर विरोधी हितोंवाले वर्गोंका अस्तित्व ही न रह जाय, समाज वर्गहीन हो जाय। उसके सारे प्रयास इसी लक्ष्यकी सिद्धिके लिए होते हैं। राजके प्रति अपने व्यवहारको निश्चित करनेमें भी वह इसी लक्ष्यको सामने रखता है।

समाजवादका राजके प्रति जो नीति है वह नीचके अवतरणसे जो मेरे साम्राज्यवाद से लिया गया है स्पष्ट हो जायगी—

जैसा कि हम देख चुके हैं राज वह संस्था है जिसके द्वारा अधिकार प्राप्त वर्ग दूसरे वर्गोंपर अपना अधिकार कायम रखता है। सेना और पुलिसके द्वारा यह संस्था काम करती है। यदि कोई विरोधी सिर उठाता है तो वह इसके बलसे दबा दिया जाता है। अधिकारयुक्त वर्गका तीसरा अस्त्र

कानून वर्गसंघर्षकी बीभत्सताको यथासम्भव छिपाता है। उसका काम यह है कि शोषित वर्गके जीवनको नित्यप्रति ऐसे बन्धनोंसे जकड़ रखे कि सेनासे काम न लेना पड़े। हर सरकार कानून और अमनकी दुहाई देती है। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तुस्थितिमें कोई गहरा परिवर्तन न हो। जो हुकूमत करता है वह हुकूमत करता रहे, जो दास है वह दास बना रहे। इसके बिना शासक मनुष्य पद्दलित मनुष्योंको दबाकर रख नहीं सकते।

राज्यका यह स्वरूप ऐसे आडम्बरसे छिपाया जाता है कि साधारण मनुष्य सचमुच उसको एक निष्पक्ष संस्था समझता है और उससे निरपेक्ष न्यायकी आशा रखता है। पर जब उत्पादनके साधनोंका रूप बदलता है और उन साधनोंसे काम लेनेवाला दूसरा वर्ग ऊपर उठना चाहता है तो उसे राज्यके सच्चे स्वरूपका बहुत ही शीघ्र बोध हो जाता है। उसको यह विदित हो जाता है कि राज्य वस्तुतः उस वर्गकी एक प्रकारकी कार्य्यकारिणी समिति है जिसके हाथमें अब तक आर्थिक और राजनीतिक अधिकार रहा है। नया वर्ग अपने लिए सुविधाएँ चाहता है पर पुराना वर्ग अपनी अर्थात् राज्यकी सारी शक्तिसे इन सुविधाओंको रोकता है क्योंकि वह समझता है कि यदि नया वर्ग सम्पन्न हुआ तो वह सारे अधिकार अपने हाथमें ले लेगा। इस प्रकार वर्गसंघर्ष, जो अबतक मन्द और आलीन था, तीव्र और प्रकट हो उठता है।

नये उठनेवाले वर्गको यह बात साफ देख पड़ती है कि यदि उसे आगे बढ़ना है तो फिर राजपर कब्जा करना चाहिये, विदेशियोंसे लड़नेके लिए नहीं अपने घरेलू प्रतियोगियोंसे लड़नेके लिए। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस।' राजपर कब्जा करनेका अर्थ है सेना और पुलिसपर कब्जा करना अर्थात् इनसे काम ले सकना। इसका दूसरा अर्थ है कानून बनानेकी शक्ति प्राप्त करना। आर्थिक और सामाजिक अभ्युदयकी लाल सामे ही मध्यमवर्गका सामन्त सर्दारोंके हाथसे राजयन्त्र छीननेपर विवश किया था। राजशक्तिको हाथमें लेते ही मध्यम वर्ग सामन्तोंकी कुर्सीपर आ बैठा था। जो अबतक शोषित था वह शोषक बन गया। जिस प्रकार पहले थोड़ेसे क्षत्रियवर्गीय अपनेसे अधिक सख्यावालोंपर हुकूमत करते थे उसी प्रकार पूँजीशाही और साम्राज्यशाहीके द्वारा थोड़ेसे मध्यवर्गीय करोड़ों मनुष्योंपर हुकूमत कर रहे हैं अर्थात् करोड़ों मनुष्योंका शोषण कर रहे हैं।

ऐसी दशामें राज्यके प्रति समाजवादीका क्या रुख हो सकता है? यह तो हम देख चुके हैं कि वह वर्ग सघर्षको बहुत बुरी चीज समझता है। हम यह भी देख चुके हैं कि वह उत्पादनके साधनोंपर व्यक्तियोंके निजी स्वत्वको बुरी चीज मानता है और पृथ्वीपर फैली हुई अशान्तिका प्रधान कारण समझता है। उसकी रायमें जबतक यह वैयक्तिक स्वत्व रहेगा तबतक पृथ्वीपर पूँजीशाही, साम्राज्यशाही वर्गसघर्ष और

अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध आजकी भाँति बने रहेंगे और आकाश पुष्पकी भाँति शान्तिका अभाव रहेगा। वह यह भी देखता है कि सम्प्रति राज पूँजीपतियोंके हाथमें है और उस वर्गको हटानेमें अपनी सारी शक्ति लगा रहा है जो पूँजीपतियोंके हाथसे उत्पीड़ित और शोषित होनेसे ऊबकर अब सिर उठाना चाहता है। यह वर्ग श्रमिकों और कृषकोंका वर्ग है। यह बातें एक और ही पाठ पढ़ाती हैं। यदि समाजवादी सचमुच पूँजीशाहीको मिटाना चाहता है तो उसको वही काम करना होगा जो इसके पहले पूँजीपतियोंने किया था। उसको राजपर कब्जा करना होगा। राजकी लगाम उसके हाथमें आते ही सरकार उसकी होगी, सेना और पुलिस उसकी आज्ञाओंका पालन करेंगी, अपनी इच्छाकेअनुकूल कानून वह बनवा सकेगा।

ऊपर मैंने लिखा है कि समाजवादीको राजपर कब्जा करना होगा। वस्तुतः यह निरर्थक सा वाक्य है। समाजवाद एक सिद्धान्त है। उसको माननेवालोंका कोई विशेष आर्थिक वर्ग नहीं होता। मेरा असली तात्पर्य्य यह था कि जो आजकलका प्रताड़ित वर्ग है, अर्थात् शरीर और मस्तिष्कसे काम करनेवाले श्रमिकों और कृषकोंका वर्ग, उसको राजकी बाग सँभालनी होगी। जबतक राजशक्ति अपनी नहीं होती तबतक पूँजीशाहीका बाल बाँका नहीं हो सकता, समाजवाद केवल पुस्तकोंके पन्नोंमें ही धरा रह जायगा। आर्थिक और सामाजिक अभ्युदयकी इच्छाने ही शोषितोंको सिखलाया है कि

उ है हुकूमत करनी होगी। मूसाकी बाबत कहा जाता है कि वह आग ढूँढने गये थ, पैगम्बर हो गये। इसी प्रकार वर्गों का अभ्युत्थान होता है।

मान लिया जाय कि सफल क्रान्तिके द्वारा अद्यावधि शोषित श्रमिक और कृषकजगने राजपर कब्जा प्राप्त कर लिया। फिर क्या होगा? जो उत्तर पहले मुँहको आता है वह तो यही है कि इस बार भी वही होगा जो अबतक होता आया है अर्थात् अपने क्रान्तिकालीन नारोंको भूलकर यह वर्ग भी राजसे अपने सकुचित वर्गहिताके साधनका काम लेगा। भेद इतना है कि अबतक यह शोषित था, अब यह शासक होगा और दूसरे वर्ग शोषित होंगे।

पर यह उत्तर ठीक नहीं है। पहले तो इस वर्गके कोई सकुचित वर्गहित हैं ही नहीं। यह तो शोषणसे व्यथित होकर उठा था अतः इसका एक ही उद्देश्य है और वह है शोषणका मिटा देना। जिन समाजवादी सिद्धान्तोंकी प्रेरणाने इसको प्राणित किया है उनका भी यही परिणाम हो सकता है। दूसरी बात यह है कि यह वर्ग इस समय सबसे नीचा है। इसमें वह लोग हैं जो उत्पादनकी किसी सामग्रीके स्वामी नहीं हैं। इनकी जीविका दूसरोंकी कृपापर निर्भर है। अतः अब यह किसको सतायेगा? इसके उत्तरमें स्यात् यह कहा जायगा कि जो आज कल शोषक हैं वही भविष्यमें शोषित हो जायँगे। पर ऐसा नहीं हो सकता। इस समय शोषकोंकी संख्या थोड़ी है परन्तु

शोषितोंकी संख्या बहुत ज्यादा है। मुट्ठीभर पूँजीपतिप्राय सारी जनताको कामधेनु बनाकर दूह रहे हैं। क्रान्तिके बाद तो यही जनता अधिकारमें होगी पर यह आजके पूँजीपतियोंका शोषण नहीं कर सकती। थोड़ेसे आदमी बहुतोंका शोषण कर सकते हैं, बहुतसे आदमी थोड़ोंका शोषण नहीं कर सकते। दो चार शेर मिलकर जंगलके और पशुओंका शोषण कर सकते हैं पर यदि सारे पशु मिल जायें और शेरोंको वशमें करके उनका शोषण करना चाहें तो नहीं कर सकते। दो दिनमें शेर खतम हो जायँगे। थोड़ोंके आहार बहुत हो सकते हैं बहुतोंके लिए यह सम्भव नहीं कि थोड़ोंको आहार बनाकर कुछ दिनतक अपना पेट भरें। अतः मजदूर और कृषक वर्गके हाथमें राजशक्ति आ जाने पर शोषण बन्द हो जायगा। इसका अर्थ यह है कि राज शोषणका साधन न रह जायगा। पर अबतक तो यही उसका प्रधान लक्षण है कि वर्गसंघर्षमय इस जगतमें राज एक वर्गको दूसरेका शोषण करनेमें सहायता देता है। अब यह पहली बात न होगी। सेना पुलिस और कानून बनानेका अधिकार होते हुए भी इनका उपयोग पुराने ढंगपर न होगा। पुराने रूपका अन्त हो जायगा।

इस प्रकार श्रमिकों और कृषकोंके हाथमें अधिकार आने पर वह संस्था जो आजसे हजारों वर्ष पहले शोषणको सुव्यवस्थित, चिरायु और सफल बनानेके लिए स्थापित हुई थी और जो आजतक इस कामको करती आयी है स्थानच्युत हो

जायगी। अपने असली स्वरूपको खोकर राज राज न रह जायगा। पर उसका ढाँचा बहुत दिनों तक रहेगा। समाजवादी न तो फौज या पुलिसको बर्खास्त कर देंगे, न कानून बनवाना छोड़ देंगे। उनके सामने अभी तो बहुत काम पड़ा होगा जिसमें इन साधनोंसे सहायता मिलेगी।

समाजवादियोंका उद्देश्य वर्गसंघर्षको मिटाकर वर्गहीन समाजको जन्म देना है। वह यह भी चाहते हैं कि मनुष्य द्वारा मनुष्यका शोषण न हो। पर यह बातें सहजमें सम्पन्न न होंगी। कृषक और श्रमिकोंके हाथमें शासन आ जाने मात्रसे भी न होंगी। जो लोग अबतक शोषणकी बदौलत पलते रहे हैं वह एकदम चुप नहीं बैठ सकते। यदि सम्भव हुआ तो वह विदेशियोंको अपनी सहायताके लिए ■ आयेंगे। फ्रेंच क्रान्तिके बाद फ्रांसके राजवंश और सर्दारोंकी ओरसे ब्रिटेन जर्मनी, रूस और आस्ट्रिया शत्रु हो गये थे। हालमें रूसी क्रान्तिके बाद रूसको चार वर्षतक रूसी विद्रोहियों और उनके विदेशी हिमायतियोंका मुकाबिला करना पड़ा था। इसके अतिरिक्त देशके भीतर भी नये अधिकारियोंका पद पद पुराने स्वार्थोंसे लड़ना होगा। उनके हर काममें अड़चन डाली जायगी। हर प्रकारके ऐसे प्रयत्न किये जायँगे जिनसे उनके शासनकी व्यवस्था बिगड़ जाय, उनके प्रयोग असफल हों, प्रजा उनसे असन्तुष्ट हो। उनके साथ बात बातमें असहयोग किया जायगा। उनकी अनुभव-हीनतासे हर प्रकारका अनुचित लाभ

रठानेकी चेष्टा की जायगी। बिना इस प्रकारके सुयत्नोंको असफल बनाये क्रांति विफल हो जायगी। रूसकी क्रांतिकारी सरकारको यह सब दिक्कतें भुगतनी पड़ी हैं। यदि नये शासक दृढ़प्रतिष्ठ हैं तो वह इस विपत्तिसागरको भी पार कर जायगे और क्षुद्र स्वार्थियोंको मुँहकी खानी पड़ेगी। उनकी सारी कोशिशें विफल होंगी और वर्गभेद मिटकर रहेगा। इस काममें नये शासकोंको राजके ढाँचेसे अर्थात् सेना, पुलिस और कानूनसे बड़ी सहायता मिलेगी। जो शस्त्र शोषणको कायम रखनेके लिए निकाला गया था वह यदि अच्छे हाथोंमें पड़ जाय तो उससे शोषणका अन्त करनेका काम लिया जा सकता है। इसलिए समाजवादी श्रमिक और कृषक राजके ढाँचेको एकदम बिगाड़ न देंगे।

इस ढाँचेकी सहायतासे इनको अपना मूल उद्देश्य, अर्थात् समाजवादी व्यवस्था और वर्गहीन समाजका संस्थापन, सिद्ध करना होगा। पुराने शोषकवर्गके विरोधको [illegible] जाने पर जो लोग उस वर्गमें थे या उसमें सम्य [illegible] यह भी श्रमकी महत्ताको स्वीकार कर लेंगे और [illegible] तथा योग्यताके अनुसार काममें लग जायंगे। [illegible] समाजमें वर्गभेद, अथवा वर्गसंघर्ष, मिट जायगा। [illegible] उत्पादनके साधनोंपर समुदायका अधिकार [illegible] युवक और युवती इस नये युगमें शिक्षा [illegible] कदम रखेंगे, उनके लिए रुपया जोड़ना [illegible]

स्वाभाविक सी बात प्रतीत होगी। वह लोकहित को सामने रखकर काम करेंगे और समाजकी समृद्धिमें शरीक होना अपना सबसे बड़ा पुरस्कार समझेंगे। इस परिस्थितिमें समाजवादी व्यवस्था आप ही स्थापित हो चलेगी। पर यह समझ रखना चाहिये कि अकेला कोई एक देश पूर्णरूपेण समाजवादी पद्धति नहीं चला सकता। अस्तु, जिस दिन यह व्यवस्था पूरी तरह स्थापित हो जायगी उस दिन राज अनावश्यक हो जायगा। न कानून बनानेकी आवश्यकता रह जायगी, न सेनाकी, न पुलिसकी। राजका ढाँचा व्यर्थका भार होगा और आप ही टूट जायगा। एंगेल्सके शब्दोंमें राज मुरझाकर झड़ जायगा। वह दिन आज नहीं है, पर आ सकता है और प्रत्येक *समाजवादी ऐसी आशा करता है कि आयगा।* उस समय भी कोई ऐसा व्यक्ति हो सकता है जो सामूहिक जीवनको खराब करना चाहे। लोकमत उसको सुधारने और यदि जरूरत हो तो दण्ड देनेके लिए काफी होगा। समुदायकी आत्मरक्षावृत्ति वेतनभोगी सैनिकोंकी अपेक्षा रक्षाका अच्छा आयोजन कर सकती है क्योंकि यह रक्षा किसी एक वर्गके हितोंकी रक्षा नहीं वरन् सबकी रक्षा होगी।

इस सम्बन्धमें एंगेल्सके नीचे लिखे वाक्य इस सारे कथन का निचोड़ देते हैं—'सर्वहारा वर्ग राजशक्तिपर कब्जा करता है और उत्पादनके साधनोंको राजसम्पत्तिमें बदल देता है पर ऐसा कर लेनेपर वह खुद सर्वहारा नहीं रह जाता, सारे वर्ग

भेद और वर्गविरोध खत्म हो जाते हैं और राजरूपसे राजका भी अस्तित्व खत्म हो जाता है। पुराने समाजको, जिसका जीवन वर्गसघर्षमें बीतता था, राजकी अर्थात् शोषकवर्गके सघ रूपकी आवश्यकता थी ताकि उत्पादनकी तत्कालीन अवस्था कायम रहे, अत उसको राजकी विशेष जरूरत इसलिए थी कि शोषितवर्ग (जो समय समयपर गुलाम, जमीनके साथ बँधा किसान या मजदूरका रूप धारण करता रहता है) बलात् दबाया जा सके। ऊपरसे तो राज सारे समाजका प्रतिनिधि था। जब राज सचमुच सारे समाजका प्रतिनिधि हो जायगा तो यह अनावश्यक हो जायगा। जब कोई ऐसा वर्ग नहीं रह जाता जिसको दबाना हो, जब वर्ग आधिपत्य और पहिलेकी उत्पादन सम्बन्धी कुव्यवस्थासे उत्पन्न वैयक्तिक जीवनके लिए सघर्षके साथ साथ आपसके झगड़े और अत्याचार खत्म हो जायेंगे तो ऐसी कोई चीज ही न रह जायगी जिसका दमन करना हो और विशेष दमनकारी शक्ति अर्थात् राजकी जरूरत न रहेगी। जो पहिला काम सारे समाजके प्रतिनिधिके रूपमें राज करता है—अर्थात् सारे समाजके नामपर उत्पादनके साधनोंपर कब्जा करना—वही राजकी हैसियतसे उसका अन्तिम स्वतन्त्र काम है। क्रमश सामाजिक सम्बन्धके विभिन्न क्षेत्रोंमें राजका हस्तक्षेप अनावश्यक हो जाता है और फिर आप ही आलीन हो जाता है। व्यक्तियोंपर शासन करनेके स्थानमें वस्तुओंकी व्यवस्था और उत्पादनकी क्रियाओंका

सञ्चालन रह जाता है। राजको कोई खतम नहीं करता, वह खुद मुरझाकर झड़ जाता है।"

जहाँतक मार्क्स और एंगल्सके आध्यात्मिक सिद्धान्तकी बात है वह इस पुस्तकका विषय नहीं है। विकासकी जो विधि उन्होंने दिखलायी है वह मुझको ठीक प्रतीत होती है। मैं यह नहीं मान सकता कि जगत्‌का मूल पदार्थ जड़ था, जिसमेंसे किसी अवस्थामें चेतना प्रादुर्भूत हुई। मैं स्वयं शाँकर अद्वैत मतको मानता हूँ। इस मतके अनुसार एक सच्चित् ब्रह्म पदार्थ मायाके द्वारा जगत् रूपमें प्रतीत होता है। परन्तु प्रतीतिके क्षेत्रमें विकास न्यूनाधिक उसी प्रकार हुआ होगा जैसे उन्होंने बतलाया है। पर इस शास्त्रार्थमें पड़नेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। इतिहासकी आर्थिक व्याख्याके सम्बन्धमें भी यही बात है। जो मनुष्य चेतनकी सत्ताको नित्य मानता है वह यह भी मानेगा कि ऐतिहासिक उथल पुथलमें आर्थिक परिस्थितियोंके साथ साथ चेतनाके स्वतन्त्र धर्म भी काम करते हैं। बुद्धिपर बाहरी परिस्थितियोंका गहिरा प्रभाव पड़ता है पर वह मनुष्यकी वास्तविक सत्ता—उसके चेतन रूप, अहम्—का धर्म है, इसलिए केवल आर्थिक कारणोंसे व्यक्ति या वर्ग या समाजको प्रेरणा नहीं मिलती। इतना कहते हुए भी यह बोध होता है कि इस समाजवादी सिद्धान्तके सिवाय किसी दूसरे सिद्धान्तने ऐतिहासिक उग्रविपर्ययोंकी व्याख्या करनेमें सफलता नहीं पायी है। यदि

इसका थोड़ासा शोधन होकर इसमें चेतन आत्माके धर्मोंके लिए भी स्थल निकल आये तो यह अकाट्य हो जायगा।

समाजवादोंका राजविषयक मत किसी काल्पनिक आधारभित्ति पर नहीं वरन् मनुष्यके कटु अनुभवपर निर्धारित है। पुरातन कहते हैं और ठीक ही कहते हैं कि 'वर्गमूलक समाजके अङ्ग एक दूसरेसे निरन्तर, कभी कभी बहुत ही उग्र, संघर्षमें लगे रहते हैं। ऐसे ही समाजमें राज और कानूनकी उत्पत्ति होती है।' यह संघर्ष कभी तो समझ बूझकर होता है, कभी अस्फुट रहता है। जमीनदार और किसानका हित एक नहीं हो सकता। दोनोंके हित टकराते रहते हैं। पर प्राय खुलकर झगड़ा नहीं होता। जब कभी सहनशीलताका प्याला भर जाता है तो फिर खुला विद्रोह होता है। कहनेको तो यह कहा जा सकता है कि धनिक लोग अपनेको निर्धनोंका अभिभावक समझें धन एकत्र करें पर यह समझकर कि यह मेरा नहीं समाजका है। सुननेमें यह बात भली लगती है, सम्भव है कोई कोई व्यवसायी इस भावसे प्रेरित होकर आचरण भी कर जाय पर ऐसा कोई भी समय नहीं देखा गया जब सब या अधिकांश धनिकोंने इसे अपनाया हो। अत संघर्ष तबतक रहेगा जबतक आर्थिक वर्ग रहेंगे, आर्थिक वर्ग तभी मिटेंगे जब उत्पादनके साधनोंका स्वाम्य व्यक्तियोंके हाथसे निकलकर समाजके हाथोंमें आ जाय। जबतक ऐसा नहीं होता तबतक एक वर्ग सम्पन्न रहेगा, वह शासनका

सूत्र अपने हाथमें रखेगा, ऐसे ऐसे कानून बनायेगा, ऐसी आज्ञाएँ निकालेगा, जिनसे उसके स्वत्वोंकी रक्षा हो। जो असन्तुष्ट हैं उनके सामने टुकड़े फेंके जायेंगे ताकि वह अधीर न हो उठें। उनको यह समझाया जायगा कि इस परिस्थितिके बने रहनेमें उनका, सबका कल्याण है। पूँजीवादी देशोंके लाखों होनहार युवक साम्राज्यशाही युद्धोंमें अपने प्राण देते हैं। परिणाम इतना ही होता है कि उनके पूँजीपति स्वामियोंके जेब और गरम होते हैं।

समाजवादी इस अवस्थाको अनुचित मानता है। अतः वह आवश्यकता पड़ने और अवसर अनुकूल होनेपर विद्रोह करनेका पक्षपाती है। जब वह राजको अपने प्रतीद्वन्दियोंका गुट मानता है तो फिर वह उसके कामोंकी जिम्मेदारी अपने ऊपर ओढ़नेको तैयार नहीं हो सकता। हाँ जो राज किसी वर्ग विशेषका प्रतिनिधि न हो, कमसे कम जो किसी शोषकवर्गका प्रतिनिधि न हो, उसको वह अपना राज मान सकता है। जबतक राज सत्ताका अन्त नहीं होता तबतक उसकी आज्ञाएं माननी होंगी, इसलिये नहीं कि राजकी कोई आध्यात्मिक सत्ता है और उसके कोई ऐसे हित हैं जो व्यक्तिके हितोंसे ऊपर और पृथक् हैं, वरन् इसलिये कि वह व्यक्तिके हितोंके साधनका प्रबल उपकरण है। जबतक राज है तबतक उसका यह कर्त्तव्य है कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करें जिनमें व्यक्ति अपने नैसर्गिक गुणोंका पूरा पूरा विकास कर सकें। इसका

अर्थ यह हुआ कि राजका अस्तित्व व्यक्तिके लिये है, व्यक्तिका अस्तित्व राजके लिये नहीं है। राजाज्ञाका पालन करना धार्मिक कृत्य नहीं बुद्धिकी सीख है।

नोट—बुखारिनके जो वाक्य उद्धृत किये गये हैं वह उनकी पुस्तक हिस्टॉरिकल मेटीरियलिज्ममें लिये गये हैं।

* बुखारिनके अनुसार उन लोगोंके समुदायको 'वर्ग' कहते हैं जो उत्पादनकी क्रियामें एकही प्रकारका काम करते हैं।

† इस अवतरणमें उस शोषित वर्गके लिये जो भविष्यत्में समानवादी व्यवस्था कायम करेगा 'सर्वहारा' शब्दका प्रयोग किया गया है। यह शब्द सबसे पहिले बँगलामें प्रयुक्त हुआ। सर्वहारा उसको कहते हैं जिसके पास शरीर और मस्तिष्कके सिवाय उत्पादनका और कोई साधन नहीं है।



फासिस्टवाद और नात्सीवाद

फासिस्टवादका उदय इटली और नात्सीवादका जर्मनीमें हुआ। दोनोंका इतिहास मिलता-जुलता है। पिछले महायुद्धके बाद पराजित जर्मनी तबाह हो रहा था। उसकी शक्ति क्षीण हो गयी थी, उपनिवेश छिन गये थे, आर्थिक संकट था, लोगोंके आत्माभिमानको गहरी ठेस लगी थी। सरकार परिस्थितिको सँभालनेमें असमर्थ थी। यूरोपके विजयी राज्योंने जर्मनीको युद्धके लिये दायी ठहराकर उसे यूरोपका अछूत-सा बना दिया था। इसी परिस्थितिने हिटलरको अवसर दिया। उन्होंने जर्मनीको सम्भाला, यह घोषित किया कि वह युद्धके लिये दायी नहीं था, उसके सैनिक बलको बढ़ाया, जर्मन जनताके सुषुप्त आत्मसम्मानको जगाया। प्राय यही अवस्था इटलीमें थी। विजेताओंकी गणनामें होता हुआ भी इटली असंतुष्ट था। उसने अपने मित्र जर्मनीके साथ विश्वासघात करके ब्रिटेन और फ्रांसका साथ दिया था पर इसका पुरस्कार उसको बहुत कम मिला। लूटका माल दूसरोंके हाथ लगा। लोगोंकी आर्थिक दशा बिगड़ गयी, आत्म विश्वास उठ गया,

अशान्ति फैल गयी। सरकार स्थिति न सम्हाल सकी। ऐसी दशामें मुसोलिनी राजनीतिक रंगमंचपर आये और इटली को महाशक्ति बनानेमें समर्थ हुए।

उस प्रारम्भिक कालमें इन दोनों नेताओंके पास कोई 'वाद' किसी प्रकारका दार्शनिक सिद्धान्त नहीं था। इन्होंने अपने अपने देशकी राष्ट्रीय भावनाओंसे काम लिया। राष्ट्र उठनेके लिये तैयार था, उसे पथप्रदर्शककी खोज थी। आज भी यह दोनों वाद दार्शनिक सिद्धान्त नहीं बने हैं। इनका मूल मन्त्र है राष्ट्रीयता। चाहे जो हो, हमारे राष्ट्रकी उन्नति होनी चाहिये। हमको कच्चा माल और बाजार मिलने चाहियें, हमारी बढ़ती जनसंख्याके लिए भूमि मिलनी चाहिये। हमारे हाथमें जो शक्ति है वही हमारे पक्षका न्याय बनाती है। न्यायका अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ प्रमाण यही है। जो शक्तिशाली राष्ट्र है वह इसी आधारपर काम करता है।

जो लोग ऐसे भाव रखते हैं वह अन्तर्राष्ट्रीयताके बड़े पक्षपाती नहीं हो सकते। समाजवाद जैसे सार्वभौम सिद्धान्त से तो उनका सहज विरोध है। इसलिये वह दूसरे देशोंके निवासियोंको शिक्षा देनेका प्रयत्न नहीं करते। सबको अपनी अपनी शक्ति और परिस्थितिके अनुसार काम करना है। मुसोलिनीने एक बार कहा था 'फासिज्म ऐसा माल नहीं है जिसे हम दूसरे देशोंमें भेजना चाहते हों।'

जहां राजका यह उद्देश्य होगा वहाँ व्यक्तिसे जिस भाव

रणकी आशाकी जायगी यह स्पष्ट ही है। उसको राजके चरणोंपर अपना सर्वस्व अर्पण करना होगा। उसका जो कुछ है वह राजका है। राजके सुखमें उसका सुख है, राजके दुःख में उसका दुःख है, वह राजके लिए जीता है, राजके लिये मरता है। इस बातमें फासिज्म और नात्सिज्म आदर्शवादके दृष्टिकोणको स्वीकार करते हैं।

इतनी समता होते हुए भी कुछ बातोंमें अन्तर है। जर्मनी में दार्शनिकता पहिलेसे ही थी आज भी है, अतः नात्सीवाद का रूप किञ्चित् अधिक दार्शनिक है। उसमें आदर्शवादसे काफी सहायता ली गयी है। जर्मन राष्ट्रका प्रधान नेता 'फ्यूहरर' राष्ट्रको—राजकी—आत्माका प्रतीक है, मूर्त राज है। अतः वह उस आज्ञाकारिताका पात्र है जो व्यक्तिसे राज को मिलना चाहिये। उसका अनुशासन अबाध है। जर्मनीमें एक बात और बढ़ा दी गयी है। वह है 'उपजातिवाद।' यह तो विद्वानोंने माना है कि मनुष्य कई मुख्य उपजातियोंमें बँटा हुआ था, जैसे आर्य्य उपजाति, सेमेटिक उपजाति, मंगोल उपजाति। उपजातियाँका यह विभेद कब हुआ और कैसे हुआ इस विषयमें मतभेद है। यह भी ठीक है कि सभ्यता और संस्कृतिके इतिहासमें आर्य्य उपजातिका स्थान बहुत ऊँचा रहा है। भारत, ईरान, मिस्र, यूनान, रोम सभी आर्योंका यशोगान गा रहे हैं। आज भी जो देश पृथ्वीपर गण्यमान्य हैं उनमें प्रधानता उनकी ही है जिनके निवासी मुख्यतया आर्य्य माने

हैं। जर्मनी, ब्रिटन, फ्रांस, अमेरिका, सभी आर्य्य देश हैं। पर सकरता भी इतनी हो गयी है कि किसी व्यक्तिकी बाबत यह निश्चयरूपेण नहीं कहा जा सकता कि इसके शरीरमें शुद्ध आर्य्य या मगोल या सेमेटिक खून बह रहा है। परन्तु जर्मनी को आज यह बतलाया जा रहा है कि वह लोग आर्य्योंकी श्रेष्ठतम शाखा नाडिकमें उत्पन्न हुए हैं, उनकी संस्कृति और सभ्यता आर्य्य संस्कृति और सभ्यताका उत्कृष्टतम उदाहरण है, उसका अमिश्रित और शुद्ध रखना उनका पवित्र कर्तव्य है। अत जर्मन राज्यमें जर्मनीकी आर्य्य उपजातिकी आत्मा अभिव्यक्त हो रही है। यह 'उपजाति वाद' जर्मनीकी अपनी उपज है। इससे राजके प्रति अन्ध श्रद्धा और भी बढ़ जाती है क्योंकि राजके रूपमें अपनी उपजाति, अपना खून, अपना सहस्रों वर्षका इतिहास मूर्त हो रहा है। इस भावसे शासकों को बड़ी सहायता मिलती है परन्तु इसके द्वारा अनार्य्य कहे जानेवालोंपर जो अत्याचार ढाया गया है उसका साक्षी आधुनिक काल का इतिहास है। ऐसी निराधार भावनाको जगाना जगत्में शान्तिका उन्मूलन करना है। राजको किसी एक कल्पित उपजातिविशेषके साथ मिला देना भयानक नीति है।

एक और विचारधारा है जो जर्मनीमें काम कर रही है। उसका प्रभाव नात्सीवादपर भी पड़ा है। वह है नेत्शेका 'अति पुरुषवाद।' नेत्शेका कहना है कि धर्म्म समाज सदाचार, नीति आदिके बन्धन साधारण मनुष्योंके लिए हैं। जो उत्कृष्ट

कोटिके लोग हैं वह इनकी परवाह नहीं करते। वह अपने सहज गुणोंके जोरसे इन दुर्बल रश्मियोंको तोड़कर ऊपर उठते हैं। जिसमें ऐसा व्यक्तित्व हो उसका कर्तव्य है कि उसको विकास दे। ऐसा मनुष्य अतिपुरुष है। छोटे मनुष्य भक्क मारेंगे, उसकी आज्ञापर चलेंगे। वह जो कहेगा वही नीति होगी, वही आचार होगा, वही कानून होगा। भवभूतिके शब्दोंमें—

'उदयति दिशि यस्याम् भानुमत् सैव पूर्वा,
नहि तरणि रुदीते दिक्पराधीनवृत्ति।'

[सूर्य किसी दिशाका दास नहीं है। वह जिधर उदय होगा लोग उसीको पूर्व कहेंगे]

सभ्यताकी पराकाष्ठा बहुसंख्यक लोगोंके साधारणतया सुखी और सम्पन्न रहनेमें नहीं, वरन् इन थोड़ेसे अतिपुरुषोंके असाधारण विभूति प्राप्त करनेसे होती है।

जो लोग किसी देशमें फ्यूएहरर, अधिनायक, एकतन्त्रनेता होनेकी महत्त्वाकांक्षा रखते हैं उनको इस वादसे सहायता मिलती है। उनकी उच्छृङ्खलतापर दार्शनिक गिलाफ चढ़ जाता है। पर समाजके लिये तो इससे जो स्थिति उत्पन्न होती है वह भयावह है। इसको मान लेनेसे राज्यमें व्याघ्र बकरीके संगठन जैसी व्यवस्था हो जायगी।

५

अफ़लातूनका मत

प्राचीन यूनानके दार्शनिकोंमें अफ़लातूनका स्थान बहुत ऊँचा है। उनके विचारोंमें गम्भीरता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अफ़लातूनका भारतके दार्शनिक जगत्से भी सम्पर्क था। अस्तु, उनके विचारोंका पाश्चात्य दर्शनपर बड़ा प्रभाव पड़ा है। ईसाई धर्मके आचार्योंने उसके बहुतसे अंशको अपने ज्ञानभण्डारमें मिला लिया है।

अफ़लातून कहते हैं कि यह दृश्य जगत् जिसका ज्ञान हमको इन्द्रियों द्वारा होता है, जो प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, वास्तविक जगत् नहीं है। यह वास्तविक जगत्की एक धुँधली परछाईं मात्र है। वस्तुओंकी आकृति और गतिविधि [illegible] कर हम [illegible] वस्तुओंकी आकृति और गतिविधिका [illegible] अनुमान कर सकते हैं, जिसकी यह परछाईं है। पर यह अनुमान अपरोक्ष ज्ञानकी बराबरी नहीं कर सकता। [illegible] उन्होंने परस्पर [illegible] जगत्का प्रधान लक्षण यह है कि [illegible] अक्षय, एकरस है। इसलिए यह [illegible]

दशामें यह आशा की जानी चाहिये कि इनकी जो आज्ञाएँ होंगी वह शुद्ध लोकहितके लिये होंगी।

यह सिद्धान्त कुछ बातोंमें अध्यात्मवादसे मिलता है पर दोनोंके दृष्टि बिन्दुओंमें बड़ा अन्तर है। अध्यात्मवादकी दृष्टिमें व्यक्तिका कोई महत्त्व नहीं है यह राजके महत्त्वका एक आवश्यक साधनमात्र है, अफलातूनके अनुसार व्यक्ति ही सब कुछ है राज उसकी शिक्षाका एक आवश्यक साधनमात्र है। पूर्ण ज्ञान होनेपर उसे किसी नियन्त्रणकी आवश्यकता न रह जायगी।

यह विवादका विषय हो सकता है कि राजका बाहरी नियन्त्रण कहाँतक लोगोंको तपस्वी, संयमी, जितेन्द्रिय बना सकता है, यह भी सन्दिग्ध है कि किसी भी राजमें बराबर शासन चलानेके लिये निःस्वार्थ योगिकल्प, विद्यातपोवृद्ध विद्वान् मिलते जायँगे या नहीं। यह दोनों बहुत बड़े 'यदि' हैं, इसीसे अफलातूनका खींचा हुआ सुन्दर चित्र कभी भी व्यवहारके क्षेत्रमें न उतारा जा सकता।



कुछ स्फुट मत

पिछले तीन अध्यायोंमें मैंने उन सिद्धान्तोंका समासेन वर्णन किया है जिन्होंने राजनीतिक जगत्‌को विशेषरूपण प्रभावित किया है। परन्तु इनके अतिरिक्त और भी विचार हैं। मनुष्यके लिये राज और व्यक्तिके सम्बन्धका प्रश्न इतना महत्व रखता है कि उसपर विचार करना उसके लिये अनिवार्य्य था। हम नीचे कुछ अवतरण देते हैं जिनसे विभिन्न दृष्टिकोणोंका कुछ पता लगता है। उनपर अलग अलग टीका करना आवश्यक है।

ईसाई धर्म्मके आदिकालीन प्रमुख प्रचारक सेण्ट पॉल कहते हैं—राज ईश्वरकी ओरसे (जनतामें) धर्म्म फैलाता है—कानून वह गुरु है जो हमको ईसाके पास ले जाता है।' स० १६५५ में स्टेट सोशलिस्ट दलकी जो कांग्रेस हुई थी उसके अनुसार, प्रोफेसर श्मालरके शब्दोंमें, 'राज मनुष्योंकी शिक्षाके लिये एक महती नैतिक संस्था है। उसका बहुत ही ऊँचा नैतिक आदर्श होना चाहिये ताकि अधिकाधिक मनुष्य सभ्यताके बड़ेसे बड़े लाभोंके भागी हो सकें' इसके विरुद्ध अराजकता

वादी जीन ग्रेव कहते हैं—न *श्वर, न कोई मालिक, हर आदमी अपनी इच्छाके अनुसार चले।' ब्रिटेनमें ब्रिटेन और दूसरे लोकसत्तात्मक राजोंमें प्रचलित लिबरल मत है। उनका खियाल यह है कि राजका होना आवश्यक है पर व्यक्तिके कामोंमें उसको हस्तक्षेप करनेका बहुत ही सीमित अधिकार होना चाहिये। इस मतको लार्ड चैथमके इन शब्दोंमें व्यक्त कर सकते हैं। 'इङ्गलैण्डमें हर आदमीका घर उसका किला है। इसलिये नहीं कि उसके चारों ओर ऊँची दीवारें और बुर्जियाँ होती हैं हो सकता है कि वह पुवालसे छाई हुई झोपड़ी हो, उसमें चारों ओरसे हवा सर्राटे भरती हो, आकाशका हर तत्व—हवा पानी बिजली—उसमें घुस सकता हो पर राजा उसमें नहीं घुस सकता, घुसनेकी हिम्मत नहीं कर सकता।' (यहाँ राजा राजका पर्य्याय है।)

सेण्ट पालके धर्म्ममूलक मतके अनुसार तो जनताको स्यात् विद्रोह करनेका अधिकार नहीं है हा धर्म्माचार्य्य शासकोंको पृथक् कर सकते हैं पर दूसरे मतोंमें तो शासकोंको बदलनेका अधिकार अवश्य ही है। यूरोपके इतिहासमें कई बार लोगोंने अपने इस अधिकारसे काम लिया है।

मैंने भारतके पुराने आचार्य्योंका मत विस्तारसे नहीं दिखलाया है। इसका मुख्य कारण यह है कि मैं अगले अध्यायोंमें जो कुछ लिखनेवाला हूँ वह मेरी सम्मतिमें भारतीय आदर्शोंका निष्कर्ष, भारतीय सिद्धान्तोंका समयानुकूल

व्याख्या है। फिर भी यहाँ संक्षेपमें उसका दिग्दर्शन कराना अस्थानिक न होगा।

राजकी उत्पत्तिकी भारतीय कथा चौथे अध्यायमें दी जा चुकी है। मात्स्यन्यायसे दुःखी प्रजाने मनुको राजा बनाया। जबतक लोग शुद्धसात्विक बुद्धिके थे तबतक राजा न था। उत्तरकुरुमें जहाँ अब भी शुद्ध सत्वान्वित मनुष्य बसते हैं सब लोग बराबर हैं और शासक शासितका भेद, राजका अस्तित्व, नहीं है। राजा शब्द राजका पर्यायी है इसका प्रमाण यह है कि आर्य्योंमें गणतन्त्र भी थे। कौटिल्यने भोज्य, द्वैराज्य वैराज्य आदि कई प्रकारके राजोंका उल्लेख किया है। उस समय राज न कहकर 'राज्य' कहते थे पर राज्यका अर्थ राजका विस्तार, शासनकाल आदि भी होता है, इसलिये मैंने सर्वत्र 'राज' शब्दका प्रयोग किया है।

कौटिल्य कहते हैं 'राजा राज्यमिति प्रकृतिसंक्षेप' अर्थात् राजा, राज्य और प्रकृति यह समानार्थक हैं। प्रकृतिमें षाड्गुण्य (६ गुणोंका समूह) होता है। वह गुण हैं, सन्धि, विग्रह (प्रत्यक्ष रूपसे हानिकारक उपायोंसे काम लेना), आसन (तटस्थता), यान (आक्रमण), संश्रय (दूसरेका सहारा लेना) और द्वैधीभाव (दुतरफी चाल)। यह षाड्गुण्य दूसरे शब्दोंमें वही वस्तु है जिसे आजकल प्रभुत्व कहते हैं। राजकी सृष्टि प्रजाकी अन्योन्य हत्यासे रक्षा करनेके लिये हुई पर वह स्वतन्त्र नहीं है। उसको श्रुतिस्मृतिके अनुसार दं

काम करना होगा। श्रुतिस्मृतिके व्याख्याता ऋषिगण और विद्वज्जन, तपस्वी, ब्राह्मण, होते हैं। अत राजके शासकोंको इनके अनुशासनमें रहना होगा। इसीलिये राजका कर्तव्य धर्म्मकी रक्षा करना, धर्म्मकी मर्य्यादाका बनाये रखना है। जबतक वह ऐसा करते हैं तबतक उनमें देवता निवास करते हैं, वह जगत्‌की पालक पराशक्ति विष्णुके प्रतीक होते हैं। उस अवस्थामें प्रजाका कर्तव्य है कि राजकी आज्ञा माने क्योंकि वह आज्ञा धर्म्मानुकूल होगी और धर्म्मसे इहलोक और परलोकमें कल्याण होता है। परन्तु यदि शासक धर्म्मकी मर्य्यादा छोड़ दे तो फिर वह भक्तिका पात्र नहीं रह जाता। ऋषियोंने राजा वेणको मारकर उसके पुत्रको गद्दीपर बैठाया था। महाभारतमें लिखा है कि लोगोंको चाहिये कि दुष्ट राजाको उसी भाँति निकाल दें जिस प्रकार गाँवसे पागल कुत्ता निकाल दिया जाता है।



सुखकी खोज

राजनीति शास्त्र भी विज्ञान है। यह सच है कि यह रसायनकी भाँति भौतिक द्रव्योंका विज्ञान नहीं है। इसलिये उसमें भौतिक विज्ञानोंकी भाँति नियतता नहीं है। पत्थरके सभी टुकड़े एकसे होते हैं। यदि एक टुकड़ा कहीं पड़ा है तो हम जानते हैं कि वह अपनेसे कभी न हिलेगा। बाह्य परिस्थितियां ही उसमें गति ला सकती हैं। अतः उनको जान लेनेसे हम जान सकते हैं कि उस पत्थरकी किस समय क्या अवस्था होगी और यह भी कह सकते हैं कि पृथ्वीके सभी टुकड़ोंकी ऐसी परिस्थितिमें वैसी ही स्थिति होगी। परन्तु जीवधारियोंमें ऐसी समता नहीं होती। एक ही परिस्थितिमें दो कीड़े भी कभी कभी विभिन्न आचरण करते हैं। मनुष्योंमें तो और भी भेद देखा जाता है। सबके संस्कार एकसे नहीं होते। इसलिये बाहरी बातोंका प्रभाव सबपर एकसा नहीं पड़ता। संस्कारोंकी विषमताके अनेक कारण हो सकते हैं जैसे कुल भेद, शिक्षा भेद, सम्पत्ति भेद। फिर अदृष्ट अर्थात् पूर्व जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके परिणामसे सबकी

बुद्धि एकसी नहीं होती। जो लोग पूर्व जन्मका अस्तित्व और कर्मवादकी सत्यता नहीं मानते हैं वह भी यह तो देखते ही हैं कि सबकी बुद्धि एकसी नहीं होती। भेद क्यों होता है इसका ठीक ठीक कारण वह नहीं बतला सकते। अस्तु कारण कुछ भी हो, बुद्धियोंमें भेद होता है अतः बाह्य परिस्थितियोंका प्रभाव सबपर एकसा नहीं पड़ता। इसलिये सब लोग एकसा व्यापार नहीं करते। इसीलिए जीवसम्बन्धी विज्ञानोंमें वह नियतता नहीं होती जो भौतिक विज्ञानोंमें होती है। इतना भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि एक ही व्यक्ति समान परिस्थितियोंमें हर समय एकसा आचरण करेगा। इतना ध्यानमें रखते हुए हमको राजनीति विज्ञान का अध्ययन करना है।

जब यह शास्त्र विज्ञान है तो इसके सिद्धान्त भी वैज्ञानिक ढंगसे ही निर्धारित होने चाहिए। वैज्ञानिक ढंग है कि पहिले उस जातिकी वस्तुओंका आचरण देखा जाय, फिर उस आचरणके पीछे जो नियम काम करता देख पड़े वह सिद्धान्त रूपमें बांधा जाय। पहिले वस्तुओंको गिरता देखा गया, फिर आकर्षण सिद्धान्त कायम किया गया। हजारों मनुष्यों को मरते देखकर यह सिद्धान्त निकला कि मनुष्य मात्रकी मृत्यु होती है। कभी कभी लोग अपनी बुद्धिके बलपर पहिले सिद्धान्त बना लेते हैं, फिर वस्तुओंके आचरणको उसके अनुसार मिलानेकी चेष्टा करते हैं। यह तरीका गलत, अवै-

शानिक है। अतः हमको राजनीतिमें भी इसी तरीकेसे काम करना चाहिये। पहिले मनुष्योंके आचरणको देखें फिर सिद्धान्त निश्चित करें।

हम देखते हैं कि लोग रुपया पैसा चाहते हैं, बाल बच्चा चाहते हैं, समाजमें अच्छा स्थान चाहते हैं, स्वास्थ्य चाहते हैं और यदि वह आस्तिक है, परलोकमें अच्छी गति चाहते हैं। शास्त्रीय भाषामें मनुष्यके चार पुरुषार्थ हैं, अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। इन्हींकी प्राप्तिके लिये वह सारे उद्यम प्रयत्न करता है। किसीकी प्रवृत्ति इनमेंसे एक पुरुषार्थकी ओर अधिक झुकती है किसीकी दूसरेकी ओर, परन्तु प्राय सभी मनुष्य यथासम्भव इन चारोंके खोजी होते हैं। जब यह देख पड़ता है कि सब बातें युगपत् नहीं मिल सकतीं तो फिर अपने संस्कारके अनुसार लोग एकको पकड़ते हैं और शेषको छोड़ देते हैं। यह बात भी देखनेमें आती है कि प्रायश सबका उद्योग यही होता है कि मेरा उद्देश्य सिद्ध हो, दूसरेका काम बिगड़ जाय ऐसा चाहनेवाला कोई विरला ही होता है। पर जब हितोंका सघर्ष होता है और यह प्रतीत होने लगता है कि बिना दूसरेका काम बिगाड़े मेरा काम नहीं बन सकता तब साधारण मनुष्य इसके लिये भी तैयार हो जाता है। किसी-किसीमें यह प्रवृत्ति बढ़ते बढ़ते यहाँतक पहुँच जाती है कि उसके लिये दूसरेका काम बिगाड़ना मुख्य और अपना काम बनाना गौण, रूप रह जाता है।

परन्तु इन पुरुषार्थोंपर ध्यान देनेसे यह साफ देख पड़ता है कि इनकी तहमें एक चीज छिपी है। वह है सुखैषणा— सुखकी चाह। कोई भी मनुष्य हो किसी भी अवस्थामें हो, वह सुख चाहता है, सुख केवल दुःखकी निवृत्तिका नाम नहीं है, वह एक स्वतन्त्र अनुभूति है। मनुष्य अपने प्रत्येक कामके द्वारा इसी अनुभूतिको ढूंढता है। रुपया, पैसा, सन्तान, पद यह सब सुखके साधन हैं इसीलिये इनका संग्रह किया जाता है। स्वतः इनमें उपादेयता नहीं है। यह चीजें किसी अवस्थामें सुख देती है, उस समय उनका संग्रह करनेको जी चाहता है, अन्यथा उनकी ओर से जी हट जाता है। जो लोग परलोककी ओर झुकते हैं वह भी सुख ही चाहते हैं। कोई उस सुखको परमसुख, ब्रह्मानन्द, कहता है, कोई ईश्वर साक्षात्कार जनित आनन्द कहता है। इससे यह परिणाम निकला कि हमारे हर प्रयासकी प्रेरणा सुखैषणासे मिलती है।

इस खोजमें हमको सदा सफलता क्यों नहीं मिलती, हम सर्वदा क्यों नहीं सुखी रह पाते ? इसके दो मुख्य कारण हैं। एक कारण तो यह है कि हमको सुखकी पहचान नहीं है। हम अज्ञानसे अभिभूत हैं। न तो हमको बाहरी जगत्का पूरी पूरी जानकारी है, न हमको अपनी चित्तकी वृत्तियोंकी पहिचान है। एक ही साथ चित्त चारों ओर दौड़ता है पर हममें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि सब वासनाओंकी एक साथ तुष्टि

कर सकें। फल यह होता है कि असन्तोष, असुख, बना ही रहता है। अज्ञानके कारण हम जिन वस्तुओंको सुखद समझकर पकड़ते हैं उनमेंसे अधिकांश दुःखद ही निकलती हैं। किसीसे तो प्राप्त करते ही चित्तको विराग हो जाता है, किसीसे भोगकालमें भी भय रहता है, कोई भोगके पीछे विरस लगती है। फिर नये सुखकी खोज आरम्भ होती है। इसी दौड़ धूपमें जीवनलीला समाप्त हो जाती है।

वेदान्तके आचार्य्योंका कहना है कि यह जगत् ब्रह्म है। ब्रह्म ही मिथ्या मायाके संयोगसे स्थावर जंगम, चर अचर, जड़ चेतन विश्वके रूपमें प्रतीत होता है। माया मिथ्या हो सही पर जबतक उसका आवरण है तबतक तो जगत्की प्रतीति होगी इसकी व्यवहारिक सत्यता मानकर ही चलना होगा। पानीमें न गिरना अच्छा होता पर जब गिर ही पड़े तो यह कहनेसे तो काम नहीं चलता कि मैं पानीसे पृथक् हूं, तैरकर निकलना होगा, तब ही पृथक्ता सिद्ध होगी। इसी प्रकार जगत् मिथ्या है कहना व्यर्थका प्रलाप है। इस मिथ्या घेरेसे निकलनेका प्रयास करना होगा, अविद्याका आवरण हटाना होगा। अविद्याका पर्दा ज्यों ज्यों दूर होगा त्यों त्यों अपने असली रूपकी अनुभूति होगी। अपना असली रूप सत् है, चित् है, आनन्द है। अविद्याके कारण इस आनन्दमयताका अनुभव नहीं होता, इसीलिये सुखकी खोज भीतरसे उठती है। सुखकी खोज, अपने स्वरूपकी खोज पतञ्जलिके शब्दोंमें 'स्वरूपमें

अवस्थान', अपने वास्तविक रूपकी अनुभूतिकी खोज है। इस खोजकी सफलताके लिए यह आवश्यक है कि अविद्याको विद्यासे बदला जाय अर्थात् समुचित शिक्षाका प्रबन्ध हो और ऐसी परिस्थिति उत्पन्नकी जाय जिसमें यह शिक्षा अबाध रूपसे दी जा सके।

सुखकी प्राप्तिमें इस बातसे बड़ी बाधा पड़ती है कि सब लोग सुखके लिये दौड़ते हैं और इस दौड़में प्रतिस्पर्धा होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि भोक्ता बहुत हैं, भोग्य सामग्री कम है। सबकी यह इच्छा होती है कि मैं स्वाधीन रहूँ अर्थात् अपने सुखको सम्पन्न करनेमें मेरा मार्ग निष्कण्टक रहे पर यह हो नहीं पाता। लोगोंके मार्ग एक दूसरेको काटते हैं इससे संघर्ष होता है। स्वाधीनताकी खोज भी उतनी ही स्वाभाविक है जितनी कि सुखकी खोज। मनुष्यकी आत्मा वस्तुतः स्वतन्त्र है, अज्ञान उसका स्वभाव नहीं है पर अज्ञान ने उसको जकड़सा रक्खा है। वह उससे छूटना चाहता है। पूर्ण स्वाधीनताकी अवस्थामें संघर्षकी बात सम्भावना नहीं है क्योंकि जब एक ही ब्रह्म पदार्थ मायाके द्वारा नाना होकर प्रतीत हो रहा है तो पूर्ण स्वाधीनता अर्थात् पूर्ण ज्ञानकी अवस्थामें नानात्व रहेगा ही नहीं, फिर किसका किससे संघर्ष होगा। ज्यों ज्यों विद्यामें वृद्धि होती जायगी त्यों-त्यों संघर्षकी सम्भावना कम होती जायगी। अभेद बुद्धिके उदय होनेपर कौन किससे लड़ेगा? पर जबतक यह बुद्धि उदय नहीं होती—

और इसका उदय होना कोई हँसी खेल नहीं है—तबतक इस बातका प्रबन्ध करना होगा कि स्वाधीनताके आवेगमें लोग उद्दण्ड बनकर ऐसी दुरवस्था न उत्पन्न कर दें जिसमें समाज ही नष्ट हो जाय और किसीकी भी स्वाधीनता न बच। यह तभी होगा जब स्वाधीनता तो हो पर उसके ऊपर नियन्त्रण रहे प्रतिबन्ध रहे। जो पूरे आत्मसंयमी हैं वह तो अपने ऊपर आप ही नियन्त्रण कर लेंगे पर इतर लोगोंपर बाहरी रोक थाम लगाना आवश्यक होगा।

कुछ लोग यह सोचते हैं कि साधारण जनता अज्ञानके वशीभूत होनेसे स्वाधीनताकी पात्र नहीं है अतः उसका कल्याण इसीमें है कि वह स्वाधीनतासे वंचित रहे। कुछ थोड़ेसे अधिकारी ही इस योग्य हैं कि वह स्वाधीन रहें। यह नीत्शेके अतिपुरुषवादका एक रूप हो गया। यह ठीक है कि सब लोग पूर्ण स्वाधीनताके पात्र नहीं हैं पर यह भी अटल सत्य है कि बिना पानीमें पाँव रक्खे तैरना नहीं आता। ज़िम्मेदारी, स्वाधीनतासे हो स्वाधीनताकी पात्रता देती है। स्वाधीन प्राणीसे भूलें होंगी पर भूलें ही उत्थानकी सोपान हैं। स्वाधीनता मनुष्यका स्वभाव है। प्रकृति दबायी नहीं जा सकती। यदि राजनीतिक क्षेत्रमें लोगोंको पराधीन बनाकर रक्खा जायगा तो उनकी स्वाधीनताकी प्रवृत्ति दूसरे प्रकार व्यक्त होगी। वह दुराचार, व्यभिचारके रूपमें फूटकर निकलेगी। इसके साथ ही जो लोग ऐसे पतित मनुष्यापर शासन

विचार किया जा सकता है। जो अनुकूल परिस्थितियाँ हैं उनके कायम होनेके लिए यह आवश्यक है कि प्रतिकूल परिस्थितियाँ दूर कर दी जायँ। इसी बातको लास्कीने एक दूसरी पुस्तकमें यों लिखा है, 'उन सामाजिक अवस्थाओंपरसे, जिनके बिना वर्तमान सभ्यताके युगमें व्यक्ति सुखी नहीं रह सकता, प्रतिबंधके अभावको स्वाधीनता कहते हैं।' यह परिभाषा नमात्मक है, इसलिये अंशतः अपूर्ण है पर इसके साथ ही सुकर भी है। यदि हम उन मुख्य बातोंकी विवेचना कर लें जो वैयक्तिक सुखके लिए आवश्यक हैं और फिर यह देख लें कि उनपर इस समय क्या प्रतिबन्ध हैं और उन्हें किस प्रकार दूर किया जा सकता है तो स्वाधीनताका स्वरूप बहुत कुछ समझमें आ जायगा। यह बात भी स्पष्ट हो जायगी कि उन प्रतिबंधोंको दूर करनेमें ही राजकी सार्थकता है।

ऊपर वैयक्तिक सुखको ही प्रधान माना है। यह ठीक है कि सामूहिक सुख भी होते हैं, कई प्रकारके सुख अकेले भोगे ही नहीं जा सकते पर वहाँ भी प्रत्येक व्यक्तिको अपने ही सुखकी अनुभूति होती है। यदि किसी विशेष प्रकारकी अनुभूति समूहमें ही हो सकती है तो व्यक्ति समूहमें जायगा। पर उसको समूहके सुखकी नहीं, अपने सुखकी अनुभूति होगी और यही अनुभूति प्रत्यक्ष अनुभूति होगी। दूसरोंके सुखका अनुमान मात्र हो सकता है। जो मनुष्य दूसरोंके लिए अपने को बलि कर देता है, दूसरोंके सुखके लिए अपने सुखोंका